

देवयज्ञ प्रदीपिका



विश्वबन्धु

Vandana Chandra
Gandhi - 1983

Darwajig - 1983

Vishavaram

Lahori, V.S. 1983

पं० लखपतराय-स्मारक-

* ॐ *

वैदिकाश्रम-ग्रन्थ-माला

संख्या नं० २

देवयज्ञ-प्रदीपिका

1961

अर्थात्

दिव्यजीवनका आदर्श और साधन-देवयज्ञका

आध्यात्मिक और वैज्ञानिक व्याख्यान ।

लेखक

श्री विश्वबन्धुशास्त्री, ऐम.ए. एम. ओ. एल.

आचार्य

दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर ।

प्रकाशक

श्रीमती प्रबन्ध-कर्त्री सभा,

डी. ए. वी. कालेज, लाहौर ।

मुद्रक 'हिन्दी प्रेस' ग्लेबरोड, लाहौर ।

प्रथमवार
२००० }

दयानन्दाब्द
१०२ }

सादा मूल्य ₹)
सुनहरी जिल्द ,, १।)

वैदिकाश्रम-ग्रन्थमाला लाहौर ।

१. इस मालाका उद्देश्य वैदिक धर्मके प्रचारार्थ सरल और स्थायी साहित्यका प्रकाशित करना है ।
२. स्थिर ग्राहक बननेका शुल्क ॥) है ।
३. स्थिर ग्राहकोंको प्रत्येक पुस्तक पौने मूल्यपर मिलेगी । पुस्तक निकलनेपर सूचना दी जावेगी ।

इस माला का प्रथम पुष्प—

वेद—सन्देश, प्रथमभाग ।

दूसरा (कुम्भ) संस्करण तैय्यार है । सुनहरी जिल्द मूल्य १॥) रु० । कई और उत्तम ग्रन्थ शीघ्र छपने वाले हैं । स्थिर ग्राहक बनें और अमृतपान करें ।

पत्र व्यवहारका पता:—

मैनेजर वैदिकाश्रम-ग्रन्थमाला

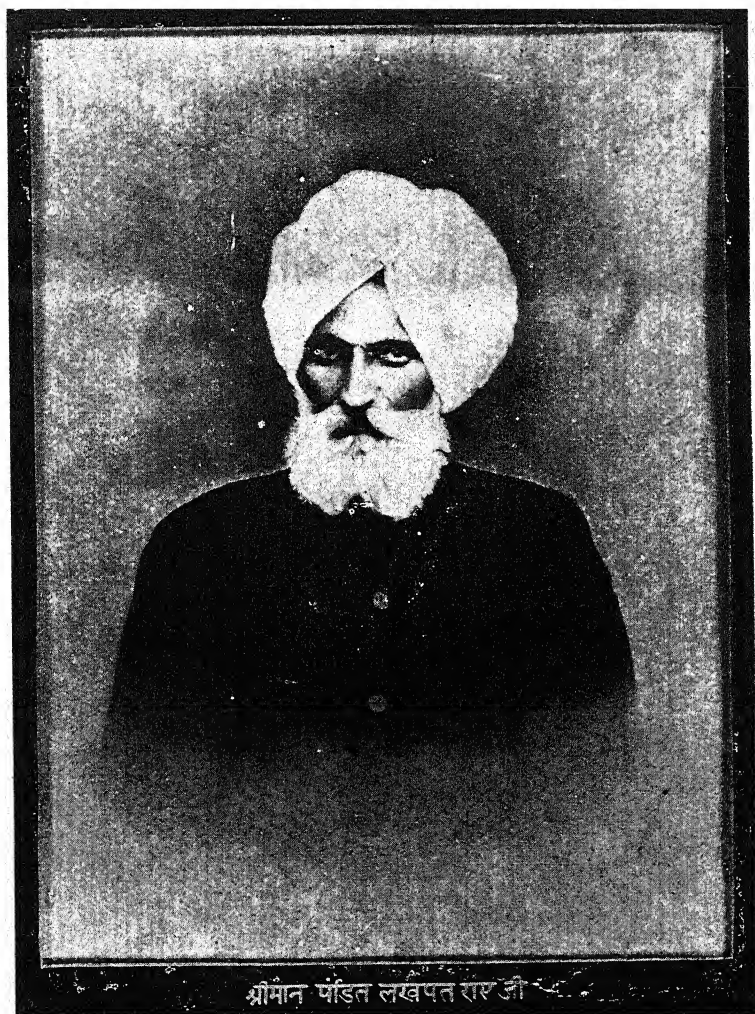
दयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय लाहौर ।

॥ ओ३म् ॥

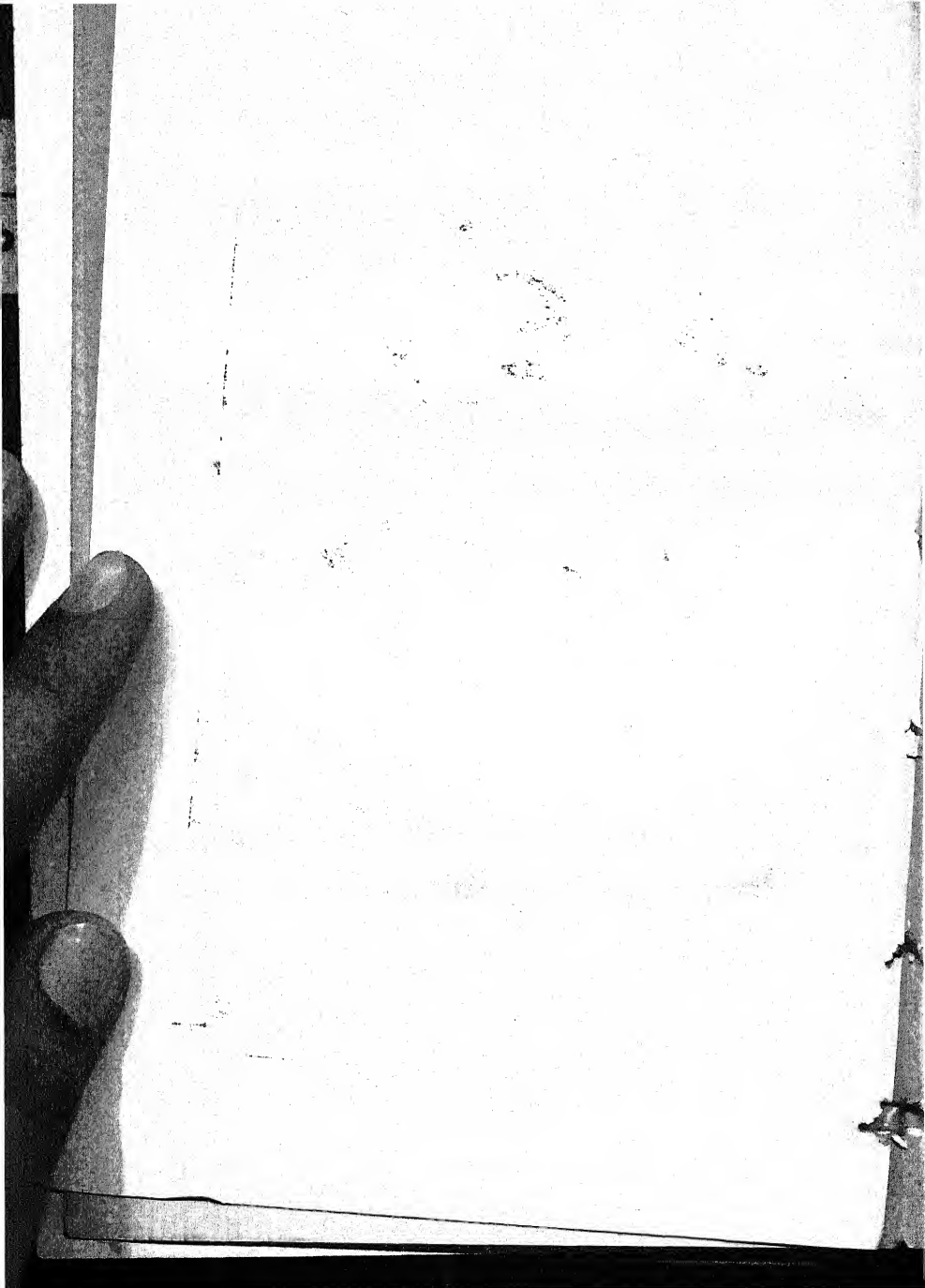
समर्पणम्

सम्पत्तिशाल्यपि तपःकृशकायचारु-
स्त्यागी परोपकृतिषु स्वमतिं दधानः ।
आलस्यनाशनिपुणः पुरुषार्थशीलो,
वृत्त्यैव देवयजनो मतिमान् य आसीत् ॥ १ ॥
ऋषीणां श्रद्धयायुक्तो महासत्त्व उदारधीः ।
कल्याणकर्मभूयिष्ठो ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः ॥ २ ॥
धर्मधुर्योवरो धीरः स नित्यं कीर्त्यते जनैः ।
प्रेम्णा वियोगदुःखार्द्रैर्नाम्ना लक्षपतीश्वरः* ॥ ३ ॥
चित्रयेद्ब्रह्मदयेऽस्माकं तस्यैषा पावनीं स्मृतिम् ।
सदा सुमार्गदृष्ट्यर्थं देवयज्ञप्रदीपिका ॥ ४ ॥

* 'पण्डित लखपतराय' इत्यर्थः ।



श्रीमान पंडित लखपत राय जी



॥ ओ३म् ॥

समर्पणम्

पंजाबमें जिन पूज्य महानुभावोंने आर्य समाजको विस्तृत तथा दृढ़ करनेमें अपने जीवन लगाये हैं, उनमें स्वर्गीय पण्डित लखपतराय जीका पवित्र नाम प्रथम पंक्तिमें गिना जाता है। होशियारपुर, जालंधर, देहली और हरयानाके प्रदेशोंकी आर्य संस्थायें सदा आपका यश गाती रहेंगी। आपके अन्दर सच्चा ब्राह्मण-भाव पाया जाता था। आप स्वयं तप और त्याग में बड़े हुए थे और जहां इन दिव्य गुणों के अंकुर देखते थे, वहां अपने प्रेम और प्रेरणाके बलसे दृढ़ता पैदा कर देते थे। आप सच्चे ईश्वर-भक्त, ऋषि-भक्त और देश-भक्त थे। आप अपनी शांति, सहिष्णुता, दया और धीरताके स्वयं ही नमूने थे। जिस दिव्य जीवनको लक्ष्ममें, रखकर यह ग्रन्थ लिखा गया है आप उसे पूर्णतया धारण करके समर्पण मंत्र पढ़ चुके थे। अतः आपकी ही पवित्र स्मृतिमें इस लघु भेंट को समर्पित करना चाहता हूं। प्रभो, आशीर्वाद दो, हममें स्वर्गीय पण्डित जी ऐसे चुपचाप काम करनेवाले वीर, धीर, मनस्वी सज्जन सदा प्रकट होते रहें।

प्रस्तावना ।

“श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।”

अर्थात् श्रद्धाको धारण करके ही अग्निहोत्र आदि धार्मिक कर्मोंमें मनुष्य प्रवृत्त होता है । आर्यजनताकी कर्मकाण्ड-विषयक उदासीनताको हटानेकेलिये, इस ग्रन्थमें यज्ञके स्वरूप तथा फलका पूर्ण वर्णन किया गया है । वास्तव ज्ञानके अनन्तर ही सच्ची भावना पैदा होती है ।

महर्षि दयानन्दजी कृत पञ्चमहायज्ञविधि तथा संस्कार-विधिमें मूल पद्धति पाई जाती है । उन्होंने इस विषयका व्याख्यानभी अपने भिन्न २ ग्रन्थोंमें किया है । साधारण पाठकको वह सामग्री प्राप्त करनी कठिन है । ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं, जिसमें शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक दृष्टिसे पूर्ण विस्तार किया गया हो । कुछ दुकानदारोंने संग्रह छपवाये हैं, परन्तु उनमें आध्यात्मिक व्याख्याका अभाव है । शब्दार्थ भी अपूर्ण और अनेक स्थलोंपर अशुद्ध हैं । इस विषयमें संस्कारचन्द्रिकाके लेखक बड़े अपराधी हैं, क्योंकि दूसरोंने तो वहींसे अर्थ ले लिये हैं । इसका नमूना आगे ३७/५२॥ में देखें ।

इस ग्रन्थमें इन दोषोंको दूर करनेके साथ २ दृष्टिकोणका भी भेद है । अग्नि आदिकी विद्याएं उपादेय हैं, परन्तु उपासकका ध्यान उधर न जाना चाहिये । भक्ति-योगकी सिद्धि केवल आत्मिक चिन्तनपर निर्भर है । देवयज्ञमें विरह-स्वरूप प्रभुके प्रकाशमय संकेत, अग्निमें आहुतिएं डालते हुए, विश्वव्यापी यज्ञका आत्मामें समावेश करना चाहिये । सुविस्तृत उदारता और

त्याग ही यज्ञकी सिद्धिका चिन्ह समझो । यज्ञ आत्मिक विकासका एक संकेत (Symbol) है । इसी दृष्टिसे इस पुस्तकमें मन्त्रोंका भाष्य किया गया है । भूमिकामें भौतिक लाभोंका भी पूर्ण वर्णन विद्यमान है । आशा है, आत्मिक साधक तथा परिणितमण्डल, दोनों प्रकारके पाठक यहां नये मार्गका उद्घाटन देखेंगे ।

अनिवार्य त्रुटियोंके लिये वे क्षमा करें और मेरा ध्यान उनकी ओर आकर्षित करें । वैज्ञानिक प्रकरणका संग्रह इस संस्थाके योग्य छात्र महाशय वाचस्पतिजी बी० एस० सी० धर्मेन्दुने किया है । अत्यल्प समयमें पुस्तकको शुद्ध रूपवाकर सर्व प्रकारसे तय्यार कर देना, पं० देवदत्तजी शास्त्री विद्या-भास्करके उत्साहका फल है । सम्पूर्ण विषयों तथा प्रमाणोंकी सूचियां बनाकर ग्रन्थको उपयोगी बनानेका श्रेय पं० भीमदेवजी शास्त्री एम.ए. एम.ओ.एल.को है । मैं इन सब महाशयोंका इस निस्स्वार्थ सहयोगके लिये ऋणी हूँ । ऐसा होना ही चाहिये था, क्योंकि इस संस्थाका उद्देश्यही इस प्रकारके सेवक तय्यार करना है । यदि कुछभी सज्जन इस ग्रन्थको पढ़कर वैदिक कर्मकाण्डके ममका समझ सकें, और अपने पवित्र धर्मके प्रति उत्साहित होजावें, तो मेरा यह प्रयत्न सफल ही है । प्रभो, तुम ही हमारी शरण हो ॥

वैदिकाश्रम, लाहौर

१ मगधर, १९८३

विश्वबन्धुः



विषयसार-सूचिका

	पृष्ठ
(क) प्रथमाध्याय—विषयावतार	१—६८
१म प्रकरण—प्रभुवदन्ता	३—४
२य प्र०—भिन्न २ सम्प्रदायोंका विकास उत्थान, पतन और परस्पर सम्बन्ध ।	६—६
३य प्र०—आर्यधर्मका स्वरूप, एकेश्वर पूजा, दूसरे मतोंसे भेद और महत्त्व ।	६—१४
४थ प्र०—आर्यधर्मका सन्देश, प्रभुमें और अपने आपमें विश्वास, ऊंच नीचका भेद, पैगम्बरोंमें विश्वासका भयानक फल, आर्योंकी सहि- ष्णुता आदि ।	१५—२१
५म प्र०—प्रवृत्ति और निवृत्तिकी कथा, सत्संगका प्रभाव ।	२१—२८
६ठ प्र०—स्वर्गकी सीढ़ी, वर्णाश्रमधर्म, ज्ञान और कर्मकी व्याख्या, संसारयात्राका वर्णन, मार्गोंका विभाग	२८—३२
७म प्र०—शास्त्रोक्त संगति, वेद, वेदांत तथा अन्य शास्त्रोंका सुन्दर उपदेश ज्ञान, कर्म तथा उपा- सनाका योग—ऐतिहासिक परिणाम	३३—४५
८म प्र०—इष्टापूर्त कर्म, भाव, व्याख्या और प्राकृतिक यज्ञका वर्णन—उपनिषदोंमें कर्म—खराडनका भाव	४५—५८
९म प्र०—पंचमहायज्ञ, सामान्य और विशेष धर्म—महा- यज्ञों द्वारा परम सिद्धि न करनेकी निन्दा ।	५९—६८

(ख) द्वितीयाध्याय—माहात्म्य-प्रकाश ६६-१२०

१म प्र०—अग्निहोत्रकी शास्त्रीय महिमा, और तत्त्वदृष्टि ७१—७६

२य प्र०—अग्निहोत्रके सांकेतिक लाभ-इशारोंकी व्याख्या ७६—८८

३य प्र०—भौतिक लाभोंका संकेत । ८८—९०

४थ प्र०—वर्षाकी उत्पत्तिका वर्णन और अग्निहोत्रका

सम्बन्ध । ९०—९६

५म प्र०—अनाजकी उत्पत्ति, और अग्निहोत्र । ९७—१००

६ठ प्र०—आरोग्य और अग्निहोत्र शंकाओंका निवारण

और परीक्षणोंका वर्णन । १०१—११७

७म प्र०—भौतिक प्रकरणोंका उपसंहार । ११७—१२०

(ग) तृतीयाध्याय—मन्त्र-व्याख्या— १२१—२२२

१म प्र०—आरम्भिक विधि-समय, स्थान, पात्र, समिधा,

सामग्री आदि । १२३—१२६

२य प्र०—स्तुति, प्रार्थनोपासना-मन्त्रोंकी व्याख्या । १२६—१३५

३य प्र०—स्वस्तिवाचनके मन्त्रोंकी व्याख्या १३५—१६६

४थ प्र०—शांतिप्रकरणके मन्त्रोंकी व्याख्या । १६७—१८६

५म प्र०—सामान्य प्रकरणके पूर्वार्धकी व्याख्या, आच-

मन, अंगस्पर्श, अग्न्याधान, समिदाधान,

जलप्रोक्षण आदिका विस्तार । १९०—२०४

६ठ प्र०—दैनिक अग्निहोत्रके मन्त्रोंका भाष्य । २०४—२०६

७म प्र०—सामान्यप्रकरणके उत्तरार्धकी व्याख्या, देव-

ताओंका वर्णन और उपसंहार । २१०—२२४

मंत्रों और प्रमाणोंकी अकारादि क्रमसे सूची ।



अ	पृष्ठ	अमृतोपस्तरण-	पृष्ठ
अक्ष्णोर्मे चक्षु-	... १९२	अयन्त इध्म आत्मा	... १९६, १९९
अन्नआयाहि	... १६४	अघाश्वाग्ने	... २१९
अन्न आयूंषि	... २१३	अरिष्टः समर्त्तो	... १५५
अन्नये स्वाहा	... २०३	अरिष्टानि मे	... १९३
अग्निर्ऋषिः	... २१३	अविद्यायां बहुधा	... ५६
अग्निर्ज्योति-	... २०६	अव्यसश्च	... ४१
अग्निमीडे पुरोहितं	... १३६	असंस्थितो वा एष	... ७२
अग्निर्वर्चो	... २०६	अहन्यहनि ये	... ६८
अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने	७६	अहानिशंभवन्तु	... १७९
अग्निहोत्रंतपः	... ५८		
अग्नि होत्रं सायं प्रातः	... ७२	आ	
अग्ने नय	... २०९	आद्धिरिति	... ७२
अग्ने पवस्व	... २१४	आनो भद्राः	... १६१
अथ य एतदेव	... ७७	आपो ज्योतिः	... २०८
अदितेनुमन्यस्व	... २०१	इ	
अन्नाद्भवन्ति	... ११२	इन्द्राय	... २०३
अनुमतेऽनुमन्यस्व	... २०१	इन्द्रो विश्वस्य	... १७८
अपामीवामप	... १५४	इमं मे वरुण	... २१७
अभयं नः	... १८८	इषे त्वोर्जे	... १५८
अभियं मित्रा	... १८८	उ	
अमृतं यस्यच्छाया	... १३१	उदुत्तमं वरुण	... २२०
अमृतापिधान-	... १९१	उद्बुध्यस्वाग्ने	... १९५

	ऊ	पृष्ठ		पृष्ठ
ऊर्वो में	...	१९३	तन्त्वा समिद्धि-	१९८
	ऋ		तमीशानं	१६२
ऋचो अक्षरे	...	३४	तस्माच्छास्त्रं	३९
ऋषियज्ञं देवयज्ञं	...	६८	तस्मादुदेवं	७७
	ए		तेनोभौ	४२
एतद्वै जरामर्यसत्रं	...	७३	त्वन्नो अग्ने	२१५
एह्येहीति तमाहुः	...	५५	त्वमग्ने यज्ञानां	१६५
	क		देव सवितः	२०२
कर्णयोर्मे	...	१९३	देवानां भद्राः	१६१
कामेन मनसा	...	३८	द्यौः शान्तिः	१८०
कालोस्मि लोकक्षय-	...	१३१		न
कालः प्राणश्च भगवान्	...	१३१	न कर्मणा मनारम्भ०	३७
कुर्वन्नेवेह	...	३६	न चक्षुषा गृह्यते	३५
को वः स्तोमम्	...	१४९	न सोमं	१९२
	च		न हि देहभृता	३८
चत्वारि वाक्परिमिता	...	३३	नियतं कुरु	३७, ३८
चित्ति जुहोमि	...	८६	न चक्षसो	१४८
	ज		नौर्ह वा एषा	७३
ज्योतिः सूर्यः	...	२०४		प
	त		प्रजापतये	२०३, २१२
तच्चक्षुर्देव-	...	१८१	प्रजापतिर्वैपित०	१४३
तत् त्वा यामि	...	२१८	प्रजापते न त्वः	२१४
तदेतत् सत्यं	...	५४	प्रजापते न त्वदे०	१३२
तद् यथेयीकातूल-	...	७७	प्रायेणाकृतकृत्यस्तु	८४
तद्विष्णोः परमं	...	३५		ब
			बाह्वोर्मे	१९३

		पृष्ठ			पृष्ठ
	भ		यदारण्या ओषधयो	...	७५
भद्रं कर्णेभिः	...	१६४	य घ्राणतो	...	१३१
भयादग्निस्तपति	...	१३०	यस्तित्याज	...	३३
भरेष्विन्द्रं	...	१५२	यस्मिंस्तुपच्यतेकालः	...	१३०
भवतन्नः समनसौ	...	२२१	यस्मिन्नृचः	...	१८५
भिद्यते हृदय०	...	३६	यं देवासो ऽवथ	...	१५६
भूर्भुवः स्वः	१९४, २०७, २१०		या अन्या ओषधयः	...	७७
भुवर्वायवे	२०७, २१०		या आरण्या ओषधयः	...	७५
भूरग्नये	२०७, २१०		यामेधां देव०	...	२०८
	म		यां ते वरुण	...	२१८
मन्द्रा कृणुध्वं	...	४३	येन्निषताः	...	१६६
	य		ये देवानां यज्ञिया	...	१४६
य आत्मदा बलदा	...	१२९	येनेदंभूतं भुवनं	...	१८४
य ईशिरे	...	१५१	येन कर्माण्यपसो	...	१८३
यज्ञाग्रतो	...	१८२	येन द्यौ०	...	१३२
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः	...	१२५	येभ्योमाता	...	१४७
यत्पयो न स्यात्	...	७४	येभ्यो होत्राम्	...	१५०
यत्प्रज्ञानमुत	...	१८४	योग संन्यस्त०	...	३८
यथा यथा हि	...	६२		व	
यथेह क्षुधिता	...	७७	वाङ्म आस्ये	...	१९२
यदन्या ओषधयो न स्युः	...	७५	वानस्पत्येनेति	...	७५
यदस्य कर्मणो	...	२११	वापीकूपतडागादि	...	५८
यद्वानस्पत्य न	...	७५	विद्यां चाविद्यां च	...	४१
यद्व्रीहि यवौ न	...	७४	विरज आकाशम्	...	४२
यदापो न स्युः	...	७५	विश्वानि देव	...	१२६, २०९
यदा यदा हि	...	७	विश्वे देवा नो	...	१४३

(घ)

		पृष्ठ		पृष्ठ
विश्वे यज्ञत्रा	...	१५४	स	
त्रीहि यवाभ्याम्	...	७५	स कालो ऽग्नि स चन्द्रमा	१३०
वेत्याग्निहोत्रम्	...	६७	सजूर्देवेन	...२०५, २०६
श			सत्यं यज्ञः	... १९१
शन्नइन्द्राग्नी	...	१६८	स त्वन्नो अग्ने	... २१६
शन्न इन्द्रोवसुभिः	...	१७२	स नःपवस्व	... १८७
शन्नः सत्यस्य	...	१७७	स नो बन्धु०	... १३३
शन्नः सूर्य्यउरु०	...	१७४	स नः पितेव सूनवे	... १३८
शन्नः सोमो	...	१७३	समिधार्ग्नि	... १९८
शन्नो अग्निर्ज्योति०	...	१७१	सन्नाजो ये	... १४८
शन्नोअज एकपात्	...	१७७	स य इदमविद्वान्	... ७७
शन्नो अदितिर्भवतु	...	१७५	सर्वस्याधिपति	... १३०
शन्नो देव सविता	...	१७५	सरस्वत्यनुम०	... २०१
शन्नो देवा विश्वदेवा	...	१७६	सर्वं वै पूर्णं	... २०९
शन्नो देवी०	...	१८०	स होवाच । न वा	... ७६
शन्नोद्यावापृथिवी	...	१७१	सांख्य योगौ	... ४०
शन्नोधाताशमु	...	१७०	सुत्रामाणम्	... १५३
शन्नो भगः शमु	...	१६९	सुसमिद्धाय	... १९८
शन्नो वातः पवता०	...	१७९	सुषारथिरश्वा०	... १८६
शुक्रो ज्योतिश्च	...	८६	सूर्य्यो ज्योतिः	... २०४
श्रेयान् स्वधर्मो	...	२९	सूर्य्यो वर्चो	... २०४

		पृष्ठ			पृष्ठ
सोमायस्वाहा	...	२०३	स्वस्थिपन्था०	...	१४५
स्वरादित्याय	...	२०७	स्वस्ति मित्रा वरुणा	...	१४४
स्वरादित्याय	...	२१०	स्वस्ति रिद्धि	...	१५७
स्वर्यन्तो नापेक्षन्त	...	८१	स्वाध्यायद्योगम्	...	६२
स्वस्तये वायुमुप०	...	१४१	स्वाध्याय नित्ययुक्तः	...	७१
स्वस्ति न इन्द्रा	...	१६३	ह		
स्वस्ति नः पथ्यासु	...	१५७	हिरण्यगर्भः	...	१२९
स्वस्ति नो मिमीता०	...	१३९			



अकारादि क्रमसे विययसूची ।

वियय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अ		अमृतभाव और स्वाहा ...	१९१
अग्नि आदि ईश्वरकी विभूतियां १६८		असुरका अर्थ ...	१४१
अग्नि और वरुणका मेल २१५-२१६		आ	
अग्नि वायु आदि परब्रह्मके		आधारका अर्थ २०३-२०४	
द्योतक ... १३६		आचमन मंत्र ... १९०	
अग्निविश्वन्यापीका संकेत ८२		आत्मा अमर है ... २०	
अग्निहोत्र और आरोग्यता १०१-१०२		आदर्श अग्निहोत्री ... ७५	
अग्निहोत्र और मंत्रोंकी उत्पत्ति ९४		आध्यात्मिक और सामाजिक	
अग्निहोत्रकी शास्त्रीय महिमा ७१		संकेतोंसे लाभ ... १७४	
अग्निहोत्रके सांकेतिक लाभ ७९		आध्यात्मिक घृत ... १८९	
अग्निहोत्र वर्षाके लिये आवश्यक ९५		आरम्भिक विधि ... १२३	
अग्निहोत्रसे आध्यात्मिक संकेत ८६		आर्य जीवनके गुण ... १५५	
अग्निहोत्रसे मल-नाश ... ७२		आर्यधर्मका महत्त्व ... ११	
अग्निहोत्रसे वायु मण्डलकी		आर्यधर्मका वैज्ञानिक तथा	
शुद्धि ... ९६		धार्मिक स्रोत वेद ... ४६	
अग्न्याधान ... १९४		आर्यधर्मका संदेश ... १५	
अग्न्याधानकी भौतिक,		आर्यधर्मका स्वरूप ... ९	
आध्यात्मिक प्रक्रिया ... १९६		आर्यधर्मकी पूजा ... १३	
अंगस्पर्श ... १९२		आर्यधर्मकी पूर्णता ... १५७	
अतिथि यज्ञ ... ६५		आर्यधर्मके आवश्यक अंग ६०	
अत्याचारी अधिक नहीं ठहरते १७२		आर्यधर्ममें सहिष्णुता ... १९	
अदिति की मित्रता १७५		आर्यधर्मसे इतर धर्मोंमें मतभेद १२	
अन्धा कर्म काण्ड ५७-५८		आर्य न्यक्तिका भाव ... १७	
अमर होना ... १४८		आर्योंकी पूजा ...	

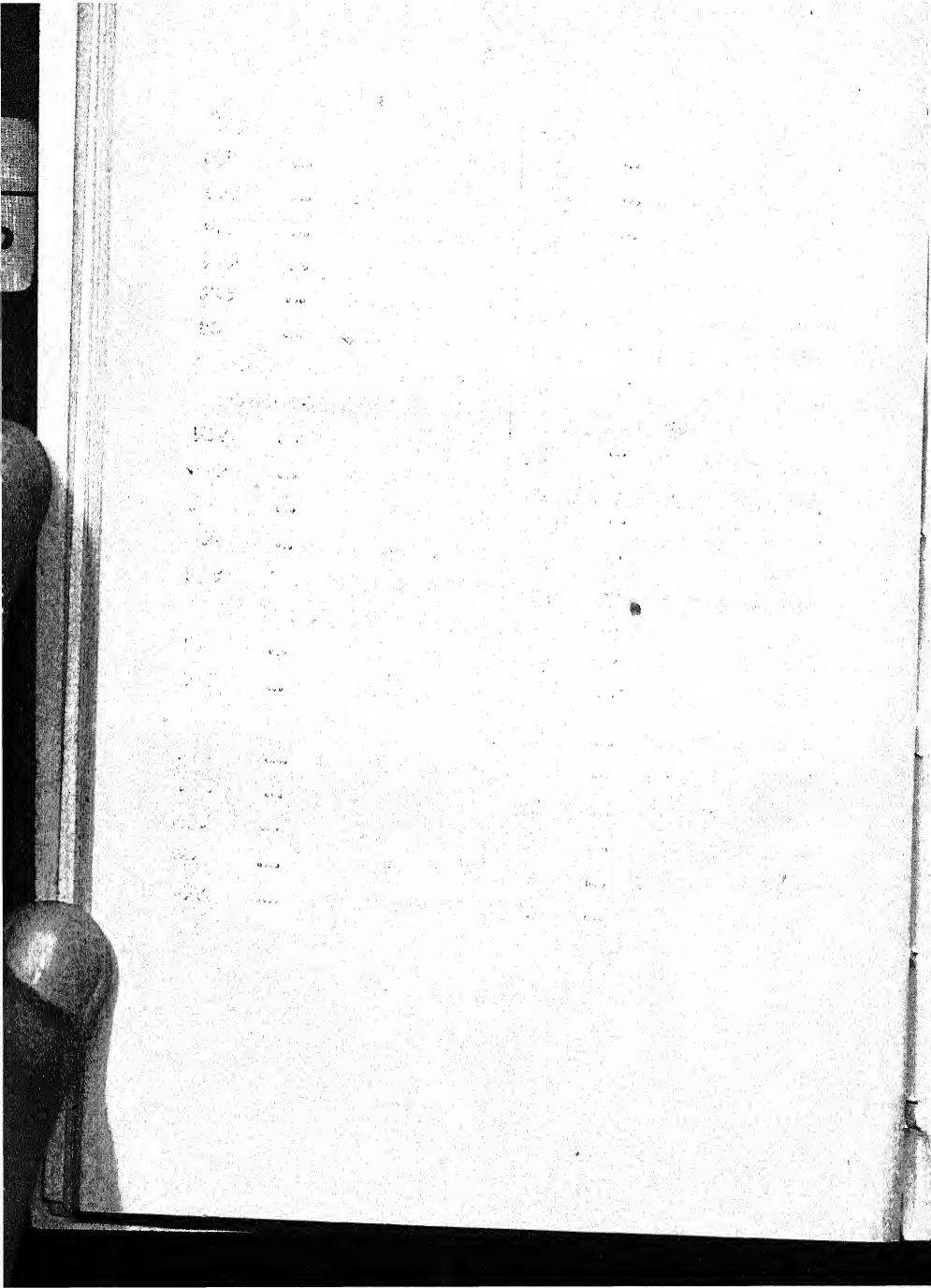
विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
इ		क	
इन्द्रका अर्थ ...	१५२	कथा का भाव	२८
इन्द्रियोंके विषयमें प्रार्थना	१६४	कर्वन द्वि ओषजिद् शंकानिवारण	११३
इष्ट और पूर्त्तकर्म ...	४५	कर्म करना सीखो ...	३८
इष्ट और यज्ञ एकही ध्वनिके		कर्मकी महिमा	३७—३९
दो रूप ...	५२	कर्म के तीन कम	२०१
इष्टका भाव ...	४९	कल्याणका मार्ग ...	५५
इष्टापूर्त्तका फल ...	५३	“क” शब्दका अर्थ ...	१२८
उ		“कस्मै” का अर्थ ...	१२९
उन्नतिका द्वार ...	१७१	कृमिनाशक हवन गैस पर	
उन्नतिका मार्ग ...	१४९	परीक्षण ...	१०९-११०
उपास्यदेव और उपासक दोनों		कृमिहर और कृमिनाशक	
नित्य चेतन स्वरूप ...	१६	पदार्थ— ...	१०५-१०६
ऋ		ख	
ऋचाएं ज्ञान, साम भक्ति, यज्ञ		खगोलिक चक्रका संचालक	१३२
कर्म वाचक ...	१८६	ग	
ऋभुका तात्पर्य ...	१४३	गुणवालोंसे मैत्री ...	१६२
ऋषि दयानन्दका महत्त्व	४५	गृहस्थाश्रम कर्म मार्गका मुख्य	
ऋषियोंपर श्रद्धा ...	११९	आश्रय— ...	३०
ऋषि वाक्य ...	८९	ग्रन्थ उपसंहार	२२३-२२४
ऐ		ज	
ऐश्वर्य की प्रार्थना ...	१३३	जनक याज्ञवल्क्य विवाद	७४-७६
ऐश्वर्य की प्राप्ति— ...	१४५	जीवन का लक्ष्य ...	१८२
ओ		जीवन नीति की कथा ...	२१-२२
ओ३म् की व्याख्या ...	१२७	जुष्ट का बुरा फल ...	२३-२४
		ज्ञान और कर्मयोग ...	४१

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
ज्ञानकर्म उपासना की अवधि		परमात्मासे इतर कोई आदि	
प्रभु-दर्शन ...	३६	देव नहीं	१०
ज्ञानकर्म एक ही चित्रके दो भाग	४०	परमेश्वर और मृत्यु ...	१३१
ज्ञान-कार्य का परस्पर सम्बन्ध	५४	पराई आग में झुलसना कीर्त्ति	
ज्ञान की महिमा ...	३५	तथा यशका विस्तार करना है	४८
ज्ञानरहित कर्म की हीनता	५६	परिखा विधि	२००
ज्ञानियों का सत्संग	१७७	परीक्षणका परिणाम	१११
ठ		पशुओंकी रक्षा	१६०
ठीक सान्द्रता न होनेसे हानि	१०७	पापका फल	१७३
त		पापसे नाश	१५४
तीन प्रकार की शांति	२०९	पाश भेदन	२१८
द		पिताका पुत्र पर स्नेह	१३८
दिव्य नौका ...	१५३	पितृयज्ञ	६४
देवताओं के संकेत ...	१३९	पृथिवीकी उपार्जन शक्तिकी वृद्धि	
देवताओं में वैश्य मरुत	१५६	का साधन	१००
देवयज्ञ ...	६३	पूतिका आश्रय	४७
दैनिक अग्निहोत्र ...	२०४	प्रकाश पुण्यका मित्र	८४
दो जातवेदस् अग्नियां	२२१-२२२	प्रकृतिका यज्ञ	५०-५१
दोनों समय के मन्त्र ...	२०७	प्रकृति परमात्मा विस्तृत और	
न		जीव अणु	४१
निर्बल पवित्रताके अर्थ समझने		प्रभुकी महिमाका वर्णन	१७८
के अयोग्य	२१४	प्रभुके विश्व व्यापी यज्ञको धारण	
प		करो	२०२
पञ्च महायज्ञ	५९	प्रभुवन्दना	१-५
पञ्च महायज्ञोंकी आवश्यकता	६८	प्रभुसर्वत्र व्यापक है	२२०
		प्राचीन समय में वैतनिक प्रचारक	
		रखनेकी प्रथाकी अनावश्यकता	६६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रजापत्याहुति ...	२१२	मित्र और वरुण ...	१४४
प्रातःकालके मन्त्र ...	२०४	मेघके दो रूपोंका वर्णन ...	१७८
व		मौनका भाव ...	२१३
बाहिरकर्म आभ्यन्तरके विचार		य	
का प्रतिबिम्ब ...	१२	यज्ञका भाव ...	१६५
बुद्धिकी प्रार्थना ...	२०८	यज्ञकी सामग्री ...	७४—७५
ब्रह्मयज्ञ ...	६१	यज्ञसे भूमिकी उपज शक्तिकी	
भ		वृद्धि ...	११८
भगवान्की आराधना ...	१२६	र	
भाष्यान्तर समीक्षा ...	२१७	रचना रहस्य ...	८३
भूतयज्ञ ...	६७	रासायनिक क्रियाके लाभ ...	८३
भौतिकलाभ अग्निहोत्र और वर्षा ...	९०	ल	
भौतिकलाभ उपसंहार ...	११७	लाभदायक कीटाणुओंकी रक्षा	९८
भौतिक, सामाजिक देवताओंको		व	
सुखदायक बनाना ...	१७०	वर्णाश्रमधर्म ...	२९
म		वर्षा बिन्दुबनना ...	१९२
मनका स्वरूप ...	१८३	वायुकी ऊर्ध्वगति ...	९३
मनकी जीत ...	१८७	वायुसोमादिकी उपयोगता	१४२
मनकी शुद्धि ...	१९४	वास्तविकज्ञानका लक्ष्य ...	३४
महा पुरुषोंका प्रभाव ...	१४७	वास्तविक शान्ति ...	१८०
महापुरुषोंका स्वरूप ...	७	विद्या, श्रद्धा विवेकसे	
महान्याहृतियोंका भाव ...	१९५	मनुष्य बलवान ...	४२
मानव जीवनका लक्ष्य ...	१५९	विद्वान् अग्निहोत्री ...	७७
मागोंका मेल ...	४३	विश्वन्यापी मंगल ...	१७९
		वेदान्तके प्रचारका निमित्त	
		और भक्तिवाद ...	४४

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
वैदिक देवता ...	१३७	साधुका उपकार ...	२५
वैदिक शब्दार्थज्ञान ...	१४०	सामाजिक आदित्य ...	१९१
व्यसन बड़े गहरे शत्रु ...	२६	सामान्य प्रकरण ...	२१०
श		सायंकालके मन्त्र ...	२०६
शान्तिका स्वरूप १८१-१८२		सार्वत्रिक मित्रभाव ...	१८९
शान्तिप्रकरण व्याख्या ...	१६७	सुखका अधिकार ...	८१
शास्त्रोक्त संगति ...	३३	सुगन्धित द्रव्योंका रखना अग्नि- होत्रकी अपेक्षा रखना लाभ- कारी नहीं ...	११२
स		सूर्यके दो रूप ...	२०५
संसार यात्रा ...	३१	स्वर्गकी नौका ...	७३
संकल्प शक्ति एक अद्भुत सम्पत्ति ८०		स्वर्गकी सीढ़ी ...	२८
सत्यका स्वरूप ...	१६९	स्वस्तिवाचन मन्त्र-व्याख्या १३५	
सत्संग ...	१४५	स्वाध्यायका फल ठीक २ चिन्तन करना ...	६२
सत्संगका अधिकारी ...	१६१	स्विष्टकृदाहुति ...	२११
सत्संगका फल ...	२७	ह	
सप्तहोताओंका यज्ञ ...	१८५	होता कौन है ...	१९३
समिधाधान ...	१९८	होत्रकी तय्यारी ...	१८९
समिधा होमीय-द्रव्य ...	१२४	होम और खर्च ...	१२५
सम्प्रदायोंका विकास ...	६	होमका ध्येय ...	८७
सर्पसमान पाप ...	१३५	होम न करनेसे पाप ...	१२०
सर्वत्र रक्षक ईश्वर ...	१९८		
सर्वसाधारण कामना ...	१९७		
सहायताका पात्र ...	१५०		





अथ विषयावतारो नाम
प्रथमोऽध्यायः ।

प्रथम प्रकरणा

प्रभु-वन्दना ।

अनार्यत्वविनाशाय प्रभुभक्तिविधायिका ।

हिताय स्यान्नु लोकानां देवयज्ञप्रदीपिका ॥ १ ॥

अर्थ-प्रभो ! तुम्हारी अपार दयासे यह सारा संसार चल रहा है । लोकमें तुम्हारी भक्तिके प्रचारार्थ और अनार्यत्वके विनाशार्थ, मैं देवयज्ञप्रदीपिका नामक ग्रन्थके लिखनेमें प्रवृत्त होता हूँ । भगवन् ! तुम्हारी कृपासे यह सबका कल्याण करने वाला हो ॥ १ ॥

त्वमेव धर्त्ता जगतः प्रसिद्धः,

समस्तशास्त्रैः कथितस्त्वमेव ।

कृता सपर्या निखिलेऽपिकाले,

तवैव धाम्नो मुनिभिश्चसर्वैः ॥ २ ॥

अर्थ-प्रभो ! तुम ही जगत्के प्रसिद्ध धारण करने वाले हो । सारे शास्त्र तुम्हारी महिमा गाते हैं । समस्त मुनियोंने सदा तुम्हारे ही परम धामकी उपासना की है । तुम्हारी कृपासे यह मेरा प्रयत्न सफल हो ॥ २ ॥

त्वमेव धातः ! करुणां विधेहि,

विनाथनाथः सकलाधिपोऽसि ।

तवैव गत्वा शरणं सहायं,

प्रहीणदोषा यतयो भवन्ति ॥ ३ ॥

अर्थ-धातः ! तुम ही करुणा केरा। तुम अनाथोंके नाथ और सबके स्वामी हो। तुम्हारी ही शरणको प्राप्त करके यति लोग सकल दोषोंसे छूट जाते हैं। महाराज ! तुम्हारे अनुग्रहसे यह शुभ संकल्प पूरा हो ॥ ३ ॥

यथा विजानासि मनो मदीयं,

तथा न वेदाहमिदं कदापि ।

सखासि सत्यो यदि योगशीलो,

वचो न किन्तन्मम, हा शृणोषि ॥४॥

अर्थ-भगवन् ! जिस प्रकार तुम मेरे मनको जानते हो, वैसे मैं भी इसे नहीं समझ सकता। तुम सदा सहायता करने वाले सखा हो। इस लिये निश्चय है कि मेरी इस विनतीको अवश्य सुनोगे और इस पुरुषार्थको सफल करोगे ॥ ४ ॥

अधेन दूये न च पारयामि,

सुदूरपारं जलधिं तरीतुम् ।

गृहाण नावं करुणां स्वकीयां,

न कर्णधारो मम देव किन्त्वम् ॥५॥

अर्थ-प्रभो ! पापसे व्याकुल हो रहा हूँ। इस दुस्तर भव-सागरको पार करनेकी मुझमें शक्ति नहीं। महाराज ! तुम ही

मेरी नौकाके नावक बनो और अपनी करुणाके चप्पू लगाकर पार करो । यह प्रयत्न ठीक सिरे तक पहुँचे ॥ ५ ॥

वर्षाणि संख्यातिगतानि यान्ति,

कष्टेषु पापप्रभवेषु कामम् ।

मोक्षः कदा मे भवितेति नाथ,

पृच्छामि मुग्धः शरणं प्रपन्नः ॥६॥

अर्थ—दीनानाथ ! असंख्य वर्षोंसे नाना प्रकारके दुःख रूपी पापके फलोंको भोग रहा हूँ । अब तो व्याकुल होकर, तुम्हारी शरणमें आ गिरा हूँ । नाथ, मेरा कब छुटकारा होगा । महाराज ! मेरी विनयको स्वीकार करो । मेरा यह शिव-संकल्प पूर्ण हो ॥ ६ ॥

दुःखानि प्रतुदन्तु भृशं, विश्रान्तिश्च परैतु भृशम् ।

प्रतीतिश्चेत्तव नाथ हरे ! सिद्धः सिद्ध इहास्मि सदा ॥७॥

अर्थ—विभो ! सहस्रों कष्ट और क्लेश आते रहें और विश्राम तथा सुखकी सामग्री दूर होजावे । परन्तु, हे नाथ, यदि आपके प्रेमका मैं पात्र हो सकता हूँ, तो मैं निःसन्देह सारे कार्योंको सिद्ध कर सकता हूँ । भगवन् ! तुम्हारी ही दयासे यह कार्य आरम्भ होता है, तुम्हारी ही दयासे यह पूर्ण हो ॥ ७ ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

द्वितीय प्रकरणा

सम्प्रदायों का विकास ।

१. इस भू-मण्डलपर लगभग पौने दो अरब मनुष्य निवास करते हैं। भिन्न २ देशों और टापुओंके जल-वायु तथा प्राकृतिक स्वरूपके भेदोंके कारण, वहां रहने वाले लोगोंके रंग, रूप तथा आकारमें पर्याप्त भेद पाया जाता है। परन्तु इससे भी कहीं अधिक अन्तर उनके जीवनकी रीति, नीति, उनकी भाषा, उनकी पोशाक तथा उनके सामाजिक, धार्मिक तथा मानसिक लक्ष्यों और विचारोंमें पाया जाता है।

२. दृष्टि-कोणका पृथक् २ होना ही संसारके नाना मत-मतान्तरोंका मूल कारण है। जन संख्याके विचारसे भगवान् बुद्ध, प्रभु ईसामसीह, हज़रत मुहम्मद तथा वैदिक ऋषियों, मुनियोंके चलाये हुए धर्म ही इस समयके लोगोंके मुख्य धर्म हैं। परन्तु इन चार मुख्य धर्मोंके अन्तर्गत सहस्रों भिन्न २ सम्प्रदाय मौजूद हैं। इनसे अलग और भी सैकड़ों मत प्रचलित हैं। इनके इतिहासके देखनेसे एक सर्वतन्त्र सिद्धांतका पता चलता है। वह यह है कि प्रत्येक मतका आदि-स्रोत एक ऐसे महानुभावका जीवन होता है, जिसमें अपने समयकी अवस्थाके अनुसार कुछ निराले गुणोंका विकास पाया जाता हो। उस विकासके प्रभावसे पूर्वसे चले हुए सम्प्रदायोंके होते हुए भी नवीन विचारोंके अनुयायी पैदा होजाते हैं। वास्तवमें यदि सोचा जावे तो यह अनुभव होता है कि पुराने

मर्तोंके अन्दर ही कुछ ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है, जो नये विचारोंके प्रचार में निमित्त बनती है ।

३. दूसरे शब्दोंमें इसका यह भाव है कि महापुरुष अपने कालके आन्तरिक विचारोंके प्रकाशक होते हैं, उत्पादक नहीं। मानो, सामुदायिकरूप से प्रत्येक समयके लोगोंकी हृदय-गत भावनाएं सूक्ष्मावस्थामें वायु-मण्डलमें तरंगों पैदा कर रही होती हैं। हम रात दिन जगतमें विचरते हुए साधारणतया अपना जीवन व्यतीत करते चले जाते हैं। परन्तु कोई २ संस्कारी आत्मा ऐसा भी निकल आता है जिसे प्रभुने इन तरंगोंसे प्रभावित होनेका सामर्थ्य दे रखा है। उसका कोमल हृदय तड़प उठता है और उसका सारा शरीर उस उमरे हुए हृदयके आधीन होकर विशेष प्रकारके कार्य-क्रममें लग जाता है। जिस तरह विद्युत्की तरंगोंके संस्कार ग्रहण करनेके लिये निश्चित स्टेशन होते हैं, ऐसे ही सामयिक संस्कारोंकी सूक्ष्म लहरोंको अनुभव करनेके लियेभी विशेष व्यक्तियोंके हृदय ही निश्चित स्टेशन समझने चाहिये।

४. इसी भावको संसारके महापुरुषोंने अपने मुखारविन्दसे प्रकाशित किया है। भगवान् कृष्णचन्द्रके सम्बन्धमें तो गीताका यह कथन प्रसिद्ध ही है:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

अर्थात्, जब जगत्में अधर्म बढ़ जाता है और धर्मका पक्ष दुर्बल पड़ जाता है, तो मैं उस समय अपने आपको प्रकट करता हूँ। रामायणकी भूमिकामें राक्षसोंसे पीड़ित पृथिवीको गौके रूपमें भगवान्की सेवामें याचक बनाकर पहुँचाया गया है। मानो, सारी धरणी एक दीन, दुःखिया, गौकी तरह बिलख रही है। किसी रक्षककी प्रतीक्षामें मुख आकाशकी ओर उठाये खड़ी है। जैसे चातककी तृषाको बुझानेके लिये श्रावणका मेघ आजाता है, ऐसे ही अत्याचारियोंके प्रहारोंसे घबराई हुई भूमिरूपी गौ श्यामवर्ण महाराज रामचन्द्रके दर्शनोंसे शान्त होजाती है। अन्य महापुरुषोंकी जीवन घटनाओंका विस्तारसे उल्लेख नहीं किया जा सकता। परन्तु संक्षेप यही है कि इन सबका स्वागत करनेके लिये जनता पूर्वसे ही तय्यार हो चुकी थी।

५. परन्तु पुराने और नये सम्प्रदायोंका परस्पर सम्बन्ध न सदा उत्तरोत्तरोन्नतिका और न ही अवश्यमेव अवनतिका होता है। कई बार एक सम्प्रदायके अन्दर कोई कार्य मर्यादाका उल्लंघन करके होने लग जाता है। अत्याचार बढ़ जाता है। पुरोहित आदि अपना कार्य लोकहितकी रीतिसे करना छोड़ कर जनताको दबाना आरम्भ कर देते हैं। इस अवस्थामें कोई संशोधक प्रकट होकर ठीक मार्गका प्रदर्शन कराता है। लूथर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, गुरु नानकदेव आदि इस प्रकारके प्रचारक हुए हैं। अपने हाँ की वर्त्तमान स्थितिका परिवर्त्तन कर नया मार्ग खोलकर इन महानुभावोंने बड़ा उपकार किया। सन्त पाल (St Paul) गुरु गोविन्दसिंह जी और

महाराज अशोकने अपने धर्मकी संकुचित अवस्थासे असन्तुष्ट होकर उसको विस्तृत तथा तेजस्वी बनानेका कार्यक्रम अपने सम्मुख रखा। जैसे कदलीवनमें नये पौदे पुराने पेड़ोंके स्थान पर भी और साथ २ भी खड़े होते चले जाते हैं, इसी प्रकार नये सम्प्रदाय पुराने सम्प्रदायों को विस्तार देकर उनके साथ २ और उनका रूप बदल कर उनके स्थानपर भी खड़े होते चले जाते हैं।

—:०:—

तृतीय प्रकरण।

आर्य धर्म का स्वरूप ।

१. आर्य धर्म किसी एक मत या सम्प्रदायका नाम नहीं। आज तक किसी ऋषि, मुनि अथवा स्मृतिकारने इसे ऐसे संकुचितरूपमें नहीं समझा। प्रथम प्रकरणमें कहे प्रकारके अनुसार भिन्न २ सम्प्रदायोंका विस्तार और विकास अलग २ महापुरुषोंका जीवन-घटनाओंके इर्द गिर्द हुआ करता है। चारों ओरसे बेल बूटियोंके घने जंगलसे ढका जाकर भी वट वृक्षका मोटा तना अपनी सत्ताको नहीं खोता। इसी प्रकार कालके प्रभाव तथा पीछे आने वाले लेखकों, भाष्यकारों और गुरुओंके प्रचारसे चाहे सहस्रों बातें आदिगुरुके मूल उपदेशमें मिल जावें, उसकी सत्ता और प्रभुतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। नहीं नहीं, कम होना या मिटना तो कहां, वह

लगातार बढ़ता चला जाता है । यदि पहिले वह महात्मा था, तो अब अपने भक्तोंकी कृपासे प्रभुके प्यारे पुत्र, अवतार या दूतका उच्च पद प्राप्त करता है ।

२. इससे विपरीत आर्य धर्मके अन्दर आज तक सिवाय परमात्माके किसीको आदिगुरु या आदिदेव नहीं माना गया । आर्य धर्म संसारमें उस समयसे चला आता है, जब यहां न इस्लाम था और न ईसाई मत, न मूसा तथा इब्राहीमको मानने वाला यहूदी मत और न जरदुष्टका मानने वाला पारसीमत । उस समय अभी न महात्मा बुद्ध, और कान्फूशसके चलाये हुए विचार फैले थे तथा न ही पुराने यूनान और मिश्रके लोकप्रसिद्ध विद्वानोंने अपनी बुद्धिके चमत्कार दिखाये थे । आर्य धर्म उस समयसे भी पूर्व संसारमें विराजमान था, जब बाबल और कालडियाकी सभ्यताएं विकसित हुईं तथा पातालदेशमें 'मय' जातिने राज्य स्थापित किया और वैज्ञानिक उन्नति की ।

३. इस भूमि पर लाखों प्रकारके प्राणी आये और चल बसे । सहस्रों मानव-जातियां जागीं, उठीं और फिर सो गईं । सैकड़ों राज्योंका उदय हुआ और अस्त भी हो गया । परन्तु आर्यधर्मका तेज अब भी वैसा ही चमकता है जैसा कि सहस्रों वर्ष पूर्व चमकता था । इसका सब से बड़ा रहस्य यही प्रतीत होता है कि इसके मानने वालोंने अपने धर्मका प्रकाश सदा उस परमेश्वरसे माना है, जो सच्चिदानन्द स्वरूप, अविनाशी, इस जगत्का कर्त्ता, पालयिता तथा संहर्त्ता है । उसका न कोई आदि है और न अन्त है । वह न स्त्री है और

न पुरुष है । वह न किसी विशेष लोकमें निवास करता है और न विशेष समयोंपर सोता वा जागता है ।

४. इसी महत्त्व-पूर्ण बातका यह परिणाम समझना चाहिये कि आर्य धर्मके अन्दर सहस्रों और लाखों ऋषि तथा मुनि हुए, जिन्होंने बड़े चढ़े हुए चमत्कारक गुण उपार्जित किये हुए थे, और बड़ी २ आध्यात्मिक सिद्धियां तथा विभूतियां प्राप्त की हुई थीं, परन्तु वे भी इस परम पुनीत धर्मके वैसे ही उपासक तथा सेवक बन कर जीवन सफल कर गये, जैसा हम सब आज भी कर सकते हैं । उन्होंने एकमुख हो कर अपना आदि गुरु उस प्रभुको ही माना और संसारको भी ऐसा ही माननेकी शिक्षा दी । उन सबने प्रभुकी वाणी अर्थात् वेदके आगे सिर झुकाया और उसे ही सदाके लिये परम प्रमाणकी पदवी दी * ।

५. कैसी सुन्दर घटना है । बड़े से बड़ा ऋषि भी अपने व्यक्तित्वको अपने धर्मकी सेवामें समर्पित करनेमें ही अपनी बड़ाई समझता है । आर्यधर्मको इससे बड़ा लाभ हुआ है । ऋषियों तथा मुनियोंके परस्पर मत-भेद भले होते रहे हों, पर आयोंके सामुदायिक धर्म-संगठनमें सहस्रों वर्षों तक भेद नहीं आ सका । परस्पर सहिष्णुताकी यह अवस्था हुई कि खण्डन करते हुए भी आपसमें आदरका व्यवहार होता रहा । आर्यावर्त्तमें नाना सम्प्रदाय पैदा हुए और अभी होंगे । परन्तु सबने

* पुष्टि के लिये देखो वैशेषिक० १।१।३ ॥ न्याय० २।१।६७ ॥ योग० १।१।२६ ॥ वेदान्त० १।१।३ ॥ तथा १।३।२९ ॥ मनु० २।६।१४ इत्यादि अनेक स्थलोंपर ऋषियोंने प्रभुके ज्ञानको ही स्वतः प्रमाण माना है ।

इस बातमें अपना गौरव माना कि हम आर्य धर्मका मूल स्वरूप अपने अन्दर धारण करते हैं † । फल क्या हुआ ? एक २ करके वे सब एक बड़े देहके मानो, अंग और प्रत्यंग बन गये । परस्पर शास्त्रार्थ खूब हुए, धर्मचर्चा और सम्वाद चलते रहे, परन्तु जिस प्रकार अन्यदेशीय सम्प्रदायवालोंने एक दूसरेको मृत्युके घाट उतार कर अपने मतका प्रचार करना चाहा है, उस प्रकारकी रुधिर-पातिनी नीति तथा रीतिका यहां उदाहरण पाना अति कठिन बात है ।

६. ईसाइयत तथा इसलाम बड़े भारी सम्प्रदाय हैं । उनमें बड़े २ महात्मा हुए हैं और अब भी हैं । उनके प्रवर्त्तकोंके जीवन अपने २ क्षेत्रमें सदा हमारी श्रद्धाके पात्र बने रहेंगे । उन्होंने प्रभुकी एकता तथा महिमाका प्रचार किया और कभी यह नहीं कहा कि हम भी परमात्मा हैं या संसार का मोक्ष हमारे ऊपर निर्भर है । परन्तु यह जगत्का मन्द भाग्य समझना चाहिये कि ऐसे महानुभावोंके चलाये हुए सम्प्रदायोंमें प्रभु-भक्तिसे कहीं बढ़ कर उनकी अपनी पूजाका ही प्रचार चल पड़ा । यह क्यों ? कदाचित् इसलिये कि इनका मूल यहूदीमतमें था और उसमें रसूलों तथा पैगम्बरोंकी बड़ी प्रतिष्ठा थी ।

७. परन्तु आर्यधर्मके अन्दर प्रभुके स्थानपर या उसके साथ मिला कर किसी अन्यकी पूजा का रिवाज नहीं

† इस सर्वन्यापक घटनामें अपवाद रूप देवसमाज नामक नवीन पन्थ है । यह लोग अपने गुरुको ही परमदेव मानते हैं । राधास्वामी मत वाले भी यद्यपि योग तथा भक्तिका बहुत दम भरते हैं, तथापि वास्तवमें अपने मूल-गुरुको ही सर्वोत्कृष्ट समझते हैं ।

चला । समयके फेरसे शुद्धोपासनाका प्रचार कम हो गया और मूर्त्तिपूजा तथा प्रतीकोपासनाकी प्रथा पड़ गई । यह प्रथा प्रकार तथा विचारके रूपमें ठीक नहीं । जातीय भावमें इससे कुछ अंशोंमें हानियां भी हुई हैं, तो भी यह निश्चित बात है कि मूर्त्ति तथा प्रतीको प्रभु-भक्तिके साधनके रूपमें रखा जाता रहा है, न कि स्वतन्त्र उपास्य देवके रूप में । भारतवर्षमें समय आया जब श्री रामचन्द्र और श्री कृष्ण महाराजकी पूजा चली, परन्तु मनुष्यत्वको बीचसे निकाल दिया गया और प्रभुका रूप दे दिया गया । पूजाका विषय दशरथ या वसुदेवका पुत्र नहीं बना, वरन प्रभुकी विभूति, चमत्कार, और महिमा हां बने । कल्पना चाहे ठीक न हो, परन्तु अवतार या अंशका भाव रख कर प्रभुकी ही पूजाकी गई । यहां अवतारवाद, मूर्त्तिपूजा या प्रतीकोपासनाका खण्डन या मण्डन करना अभिप्रेत नहीं । यहां तो आर्यधर्मके सभी सम्प्रदायोंकी पूजाके सामष्टिक स्वरूपको दूसरे अन्यदेशीय सम्प्रदायोंकी पूजाके सामने रख कर मिलान करते हुए देखना ही लक्ष्य है । जिस तरह एक ईसाई या मुसलमान भक्त प्रभुको भी नमस्कार करता है, ऐसे आर्योंके हां कभी नहीं हुआ । यहांपर इस गये गुजरे हुए समयमें भी, जब कि शास्त्रीय मर्यादाओंका सर्वथा लोप सा हो चुका है, कभी कोई ईश्वर-भक्त ऐसा कहता हुआ नहीं सुनाई पड़ सकता कि 'हे प्रभो ! तुम्हें नमस्कार हो, और हे राम, तुम्हें नमस्कार हो' । परन्तु जो मुसलमान हजरत मुहम्मदका नाम कलमेमें न पढ़े, वह पूरा ईमानदार नहीं गिना जा सकता । यद्यपि इसलाम इस

बातका अभिमान करता है कि उसके प्रचारसे ही लोकमें एक ईश्वरकी पूजा चली है, तो भी उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह हमारे मुसलमान भाइयोंका कथन निःसार है। हां, इसमें रत्ती भर भी संदेह नहीं हो सकता कि यह उनकी मिली जुली हुई भी पूजा हमारी शुद्ध पूजासे अधिक बलवती है, क्योंकि उनमें विश्वासका भाव अधिक पाया जाता है।

८. इस उल्लेखका तात्पर्य यह है कि आर्योंकी पूजाके मूल स्वरूप तथा भाव में भेद नहीं हुआ। साम्प्रदायिक कारणोंसे रीति, रिवाजमें अवश्य अन्तर पड़ता रहा है और अब भी हमारी आंखोंके सामने नित्य ऐसा होता चला जा रहा है। संक्षेप यह है कि आर्य धर्म एक नित्य, अविनाशी, अनादि तत्त्वकी पूजाका उपदेश करता है। आर्योंके परस्परके झगड़े प्रकार तथा विधिके झगड़े हैं। मूल सिद्धान्तका वास्तवमें कोई झगड़ा नहीं। आर्य धर्मके अन्तर्गत कोई सम्प्रदाय प्रभु को छोड़ कर या उसके साथ मिलावट करके, मूर्ति या विशेष मनुष्यकी पूजा करना नहीं सिखाता। मूर्ति-पूजाके विधायक ग्रन्थोंमें भी उसे केवल सीढ़ीके रूपमें उपास्थित किया है। जो अज्ञानी लोग उसीमें लगे रहते हैं और साक्षात् प्रभुके ध्यानका अभ्यास नहीं करते, उनकी निन्दा भी पायी जाती है *। स्मरण रहे, यह नवीन ग्रन्थोंके विषयमें ही कहा जा रहा है। वेदों और उपनिषदादि पुरातन ग्रन्थोंमें मूर्ति पूजाका गन्ध भी नहीं पाया जाता।

* देखो यजु० ३२।११ ॥ अथर्व० १३।४।१६-२१ ॥ भागवत० १०।८४।१३ ॥ इत्यादि

चतुर्थ प्रकरण ।

आर्य धर्मका सन्देश ।

१. आर्य धर्मका यह सार्वजनिक स्वरूप इसे विश्व-व्यापी बनाये हुए था । संसारके कोने २ में इसका प्रचार था । परन्तु शनैः २ समयका ऐसा चक्र चला कि यहांसे लोगोंने ऐश्वर्य-वृद्धि अथवा देशाटनके लिये बाहिर जानेमें संकोच करना आरम्भ किया । व्यापारियों और राजाओंके साथ और आगे पीछे उनके धर्मके नेता, ब्राह्मण, पुरोहित आदि भी बाहिर जाते थे । अब उनके आने जानेमें भी शिथिलता होती गयी । जो लोग बाहिर जा बसे थे, वे समय पाकर मूल विद्या तथा धर्मके स्रोतसे अपरिचित से होगये और पूर्वोक्त प्रकार से नाना मत, मतान्तरोंका प्रादुर्भाव हुआ * ।

२. स्वयं भारत वर्षमें भी आर्य धर्मके ठीक प्रकारसे प्रचार न रहनेसे लोगोंमें अनेक मिथ्या विश्वास और झूठी बातोंका प्रवेश होता चला आया है । इस युगमें करोड़ों आर्य (हिन्दू) जब राम का नाम लेते हैं, तो उनके मनमें अयोध्या-नरेश महाराज रामचन्द्रके वृत्तान्तका ही ध्यान होता है । विष्णु और शिवके मन्दिरोंमें प्रातः और सायं जाने वाली प्रजामें कोई ही ऐसा होगा जो अपने चित्त को प्रतिमासे पृथक् करके परब्रह्म परमात्माके ध्यानमें लग जाता हो । साधारण जनताका तो क्या कहना, बड़े २ विद्वान् और

* मनु० १० । ४३-४५ ॥ महाभारत, अनु० श्लोक० २१०३-४ ॥

पण्डित भी ऊपर २ के शंख और घड़ियाल तक ही रह जाते हैं । गुड़ियाके खेलमें ही बेचारोंकी आयु व्यतीत हो जाता है । प्रभुसे सच्चा संबंध जोड़नेकी अवस्था ही नहीं आती ।

३. परन्तु ऐसी मन्दावस्था होते हुए भी सिद्धान्तकी दृष्टिसे आर्य धर्म तथा आर्य सभ्यताके मूल तत्त्वों और आदर्शोंकी ही अन्य जातियोंके भावोंसे तुलना करनी चाहिये । आचरणमें हम न इस बातमें और न किसी और बातमें अब सोलह आने आर्य हैं । पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि वेद भगवान् तथा उसके चारों ओर फैले हुए वैदिक साहित्यमें तीन कालमें जन्म, मरणके बन्धनसे मुक्त, निर्लेप, परमात्म-तत्त्वका ही उपास्यदेवके रूप में वर्णन किया गया है । आर्य-धर्म प्रत्येक नर नारीको अपने सुख और दुःखके लिये स्वयं उत्तरदायी ठहराता है । जीवात्मा उत्पन्न होकर नाश हो जाने वाला, क्षणिक पदार्थ नहीं । जहां उपास्यदेव नित्य, अविनाशी है, वहां उसके उपासक भी नित्य, चेतनस्वरूप हैं । उनका अपने स्वामीसे कोई नया संबंध नहीं, वरन सदासे चला आता है । यह हमारे अपने ही मन्द कर्मोंका फल समझिये कि हमारी बुद्धियोंपर अज्ञानकी घनघोर घटाएं छायी रहती हैं और हम मूढ़ होकर उस प्यारेको भूल जाते हैं । बस, फिर क्या होता है ! सहस्रों प्रकारसे पर्वतों, नदियों, वृक्षों, मूर्तियों और कबरोंके आगे माथा घिसाने लग जाते हैं और मूर्खता-वश प्रभुके स्थानपर अन्य चेतन, अचेतन पदार्थोंकी पूजा आरंभ कर देते हैं ।

४. समय आता है, जब किसी अनुभवी, महात्माका सत्संग प्राप्त होता है और यह निद्राकी दशा दूर होकर जागृति पैदा होती है। परन्तु महात्माओंके संसर्गमात्रमें यह सामर्थ्य नहीं है कि बिना हमारे कर्मोंको अच्छा बनाये और बुद्धिके ऊपर आये हुए अज्ञानके आवरणको दूर किये, अपने किसी छू-मन्त्र या आशीर्वादके प्रतापसे ही हमें सीधा मोक्षधाममें पहुँचा सकें। कुछ सम्प्रदाय ऐसा मानते हैं, परन्तु उनका ऐसा मानना वेद, शास्त्र तथा तर्क के सर्वथा विरुद्धही जानना चाहिये। जहाँ आर्य धर्म प्रत्येक व्यक्तिको अपनी अवस्थाको उच्च बनाने का सारा भार अपने कर्णोंपर रखनेके लिये बाधित करता है, वहाँ पतितसे पतित और कुसंस्कारी जीवोंको भी आत्मोन्नति तथा परमपदकी प्राप्ति अवसर देता है। दूसरे शब्दोंमें हमें सच्चा साधक बनाता हुआ, अदीन और स्वतन्त्र बनाता है। हमें निहत्था और पंगु नहीं रखना चाहता, वरन अपने पुरुषार्थके आधारपर सिर ऊँचा करनेके योग्य बनाता है और इस प्रकार हमारे अन्दर आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास और दृढ़ताके सुनहरी गुण पैदा होते हैं।

५. दूसरी ओर, इसलामके अनुसार पापीसे पापी मनुष्य भी मुहम्मद साहिब पर विश्वास लानेसे मुक्त हो जावेगा, इसी प्रकार ईसाई लोग भी प्रभु ईसामसीहमें श्रद्धा करना स्वर्गद्वारका खोलनाही समझते और मानते हैं। ऐसेही अन्य भी कई सम्प्रदाय हैं, जिनके अन्दर पुण्य पाप और दूसरे सब भावोंसे बढ़कर अपने गुरुकी बड़ाई और श्रद्धाका ही अधिक विचार किया जाता है। संसारकी नीति पर इसका बड़ा हानि-

कारक प्रभाव पड़ा है । निचली श्रेणी के लोगों की सेनाओंने अपराध-रहित जनता को सहस्रों बार लूटा और तंग किया है । यह क्यों ? केवल यही कारण था कि उनके पढ़े लिखे और अपने तौर पर धर्माभिमानी नेताओंके चित्तसे लूट, खसूट तथा हत्याके संबंधमें स्वस्थ मनुष्योंमें सदा रहने वाला पापका भयानक भाव उठ गया था । और यह इसीलिये कि उनके अन्दर उपर्युक्त प्रकारका विश्वास मौजूद था । अन्यथा इस बातका और उत्तर ही क्या है कि गज़नी-पति महमूद प्रतिवर्ष अपनी सेनाको लेकर भारतवर्ष पर टिड्डी-दलकी भान्ति आ दूटे और यहांकी सम्पत्तिसे अपने हां को मालामाल करें और फिर इस अत्याचारके बदले इसलामी धर्मके अध्यक्ष, बग़दादके खलीफ़ेकी ओरसे उसे डांट और दण्डके स्थान पर प्रतिष्ठा और सत्कारका अधिकारी समझा जावे ।

६. इस चित्रके दूसरे पहलूपर भी ध्यान करना चाहिये । इन सम्प्रदाय वालोंके अनुसार श्रद्धालु लोग तो सदा स्वर्गमें रहेंगे और दूसरे लोगोंको नरक में धकेल दिया जावेगा । इन दीनोंकी पुकार कभी नहीं सुनी जावेगी और इन के दुःखकी समाप्ति या स्वर्गकी प्राप्ति का कोई मार्ग नहीं बताया जाता । इसका मुख्य कारण यह था कि यह लोग जीवात्माके नित्य, अमर स्वरूपको ठीक २ समझ नहीं सके । यह त्रुटि भी जगत्के इतिहासमें बड़े धिनौने परिणामों की जननी बनी रही है । जो हमारे अन्दर विचार होते हैं, हमारा बाहिरका कर्म उन्हींका प्रतिबिम्ब होता है । पादरियों और काज़ियोंने यह सोचा कि काफ़िरोंने नरक में जाना तो है ही,

यहीं इन्हें क्यों न पड़ावपर पहुँचा दिया जावे । उन्होंने अच्छे से अच्छे मनुष्योंको काल, कराल कोठरियोंमें धकेल दिया । वहाँ वे पत्थरकी दीवारों और लोहेकी जंजीरों और सीखोंके साथ सिर रगड़ २ कर मर गये, पर इन प्रभु-भक्तोंने उन्हें इस बातकी आज्ञा कादापि न दी कि जीते जागते बाहिर निकल सकें और जो वायु प्रभुकी अपार दया से कीट पतंग तकको अनायास प्राप्त हो रही है, उसमें घड़ी भर खुला श्वास ही ले लें । जीवित लोगोंको चित्तापर रख कर फूँक दिया गया । हजारों और लाखों गले काट डाले और बहु-मूल्य पुस्तकोंको जला दिया गया । इन अत्याचारोंकी बड़ी लम्बी कहानी है और बड़े दुःखसे भरी हुई कहानी है । मानव-इतिहासके पन्ने इस व्यर्थ गिराये हुए रुधिरसे सदाके लिये दूषित हो चुके हैं ।

७. दूसरी ओर, आर्यावर्तके इतिहासमें विचार-भेदके होते हुए भी ऐसी दुर्घटनाओंका उल्लेख नहीं मिलता । आर्य धर्मके पूज्य ऋषियोंने प्रत्येक मनुष्य, नहीं २, प्राणिमात्रको यह आश्वासन दे रखा था कि तुम सबको स्वर्गका द्वार खुला हुआ मिल सकेगा । हां, एक शर्त है और वह यह कि तुम अपने संस्कारोंको ठीक करो । बस, फिर कहीं भटकना नहीं पड़ेगा, स्वर्ग तो तुम्हारे अन्दर ही मौजूद है । तुम्हारी दिव्य आंख खुल जाएगी, तुम्हारे बन्धन कट जाएंगे । तुम्हारे सब संशय मिट जावेंगे और कोई मोक्ष-विद्या तक भाव न रहेगा । पर इसके लिये वह, देखो, हिमाच्छादित पर्वत चढ़ना है । अनेक लोग तुम्हारेसे आगे चढ़ चुके हैं । सहस्रों तुम्हारे साथ चढ़ रहे हैं और लाखों तुम्हारे पीछे आवेंगे । देखो, संभल २

कर एक २ पग धरो । इधर उधर मत देखो, नहीं तो गि पड़ोगे, चोटें खाओगे और बाट बढ़ाओंगे । चलो, हम तुम्हारी सहायता करेंगे, तुम्हें आश्वासन देते हुए चलेंगे, कहीं २ सहारा भी देंगे । परन्तु स्मरण रखो, हम अपनी पीठपर या कंधोंपर चढ़ा कर, ऊपर पहुँचानेमें असमर्थ हैं । तुम स्वयं नीचे आ गिरे हो, स्वयं ही पुरुषार्थ करके ऊपर चढ़ना होगा ।

८. आत्मा अमर है । मरना क्या है ? एक स्थानपर आँख बन्द करके दूसरे स्थानपर खोलना है । प्रत्येक जीवात्मा इस प्रकार रात दिन आँखें बन्द करता और खोलता हुआ चला जाता है । प्रत्येक के लिये आर्य धर्मका यह निर्देश मोटे अक्षरोंमें लिखा हुआ सामने लटक रहा है, कि धैर्य रखो और इस विकट मार्ग पर चले चलो । न प्रमाद करो और न आलस्य करो । अपने भाव, विचार, संकल्प तथा आदर्श ऊंचे बनाते चलो । समय आने वाला है, जब यह जीवन का घनाच्छादित गगन-तल निर्मल हो जावेगा । नहा धोकर मानो सूर्य भगवान् उदय होंगे । उस उज्ज्वल प्रकाश में तुम्हें अपना स्वरूप दिखाई पड़ने लगेगा और तुम अपने सच्चे मित्र को पहचान कर फिर उससे प्रेम करना तथा उसके आनन्दसे आनन्दित होना आरम्भ कर दोगे । ऋषियों का यह सन्देश वायु मण्डलमें गूँज रहा है । कान रखने वालो, सुनो और कान धर कर सुनो । आँखें रखने वालो, देखो और इस पवित्र मार्ग का अवलंबन करो । एक जन्ममें न सही, अनेकमें सही, यह विश्वास रखो, तुम अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लोगे । जब तक तुम उससे दूर हो, नरकमें हो । नरक नाम दुःखका है, और मार्ग-भ्रष्ट होनेसे अधिक दुःख क्या है?

पा लेने पर सदा स्वर्ग ही स्वर्ग है । स्वर्ग नाम सुखका है और प्रभु-प्राप्तिसे बढ़ कर और आनन्द ही कौनसा है ?

—:०:—

पंचम प्रकरण ।

जीवन-नीति की कथा ।

१. पूर्वोक्त प्रकरणके शब्द बड़े उत्साह-जनक हैं । परन्तु यदि इतना कहकर ही मनुष्योंको अपने २ भाग्यकी परीक्षाथ छोड़ दिया जावे, तो प्रत्येकका पर्वतके शिखर तक पहुँचना अति कठिन है । इस कारणसे सर्व साधारणकी सहायतार्थ परमोपकारी, महर्षिजनोंने वेदादि सच्चास्त्रोंका आश्रय लेकर जिस मार्गका उपदेश किया है, उसके ज्ञान, कर्म तथा उपासना नामक तीन विभाग हैं । इस मार्ग पर चल कर नर, नारी परम पदको प्राप्त कर सकते हैं । इसीको सुगमतासे समझानेके लिए एक कथा कही जाती है ।

२. एक समय का वर्णन है कि गंगाके किनारे बसे हुए रामनगरमें विष्णुगुप्त नामका एक बड़ा सम्पत्तिशाली सेठ निवास करता था । दूर २ के देशोंके साथ उसका वाणिज्य व्यापार था । भिन्न २ मण्डियोंमें उसके सैकड़ों गुमाशते काम करते थे । इतना ऐश्वर्य तथा सुखका साधन होनेपर भी सेठ जीका हृदय खिलता नहीं था । वे अनुभव करते थे कि विना सन्तानके यह सारा भोग और धन-धान्य किस अर्थ ? इसी

विचारमें वे काम चला तो रहे थे, पर उनका मन सदा खिन्न सा रहता था ।

३. कहते हैं कि एक बार इसी अवस्थामें वे बाहिर जो घूमने जा रहे थे, तो एक महात्मा उन्हें मिले । बातचीतमें उन्हें सेठ जी के दिलका भेद पता लगा । महात्मा गुणी थे और अनुभवी थे । सेठ जीको नियमानुसार व्यायाम आदिके सेवनकी विधि बतायी और विशेष पथ्य-सेवनका उपदेश किया । बस यह समझिए कि उनके ही आशीर्वादसे सेठ जीके घर का उजाला और उनकी आंखोंका चांदना, लड़का पैदा हुआ । बड़े आनन्द, मंगलसे उसके सारे जातकमादि संस्कार किए गए और उसका नाम साधुप्रसाद रखा गया ।

४. बुढ़ापेमें गोदोंमें लाल पड़ा था । सेठजी के लाड प्यारकी कोई सीमा न थी । बीसियों नौकर उसके खिलाने पिलाने और विनोदके लिए रख रखे थे । साधुप्रसाद इस प्रकार बचपनसे जवानीमें प्रविष्ट हुआ । पढ़ने में उसकी वृत्ति अधिक जमती न थी, और न सेठजी उसपर विशेष दबाव डालना पसन्द करते थे । कई अध्यापक आये और गये, परन्तु साधुप्रसाद का मन कहींका कहीं घूमने लग गया था । गली मुहल्लेके लड़कोंके साथ वह कई प्रकारके कुसंस्कार ग्रहण कर चुका था और दिनका बहुतसा भाग इधर उधर फिरने में ही बिताता था । गुप्त रीतिसे विष्णुगुप्तके कानोंमें कई प्रकारकी भिनक पड़ने लगी । परन्तु लड़का अब वशसे निकल चुका था ।

५. साधुप्रसादको जुपके व्यसनने बहुत घेर रखा था । सारी आयु पुत्रके अभावके कारण और अन्तमें कुपुत्रके बुरे

संस्कारोंसे सन्तप्त हुए २ बारी २ मातापिता चल बसे थे। उसका विवाह होचुका था और नाम मात्र दुकानका काम चलाता था। बाहिरका धन गुमाशतोंके पासही रहा और घरका माल यह यहां बाहिर निकाल २ लुटा रहे थे। बाप दादाकी कमाई मिट्टीमें 'मिल रही थी। शनैः २ घर, सम्पत्ति, पैसा, टका सब हाथसे निकलता गया। फटे पुराने कपड़ोंमें कभी २ एक गन्दे, सड़े कूचेसे निकलता हुआ दिखाई पड़ता था। उसके घर से बेचारी, कर्मोंकी मारी रो २ कर दिन पूरे कर रही थी। कभी आधी रातको आ धमकता था और कभी दो २ दिन मुंह ही न दिखाता था। दीन, दुःखिया, अबला कभी अपनी माता पिताको कोसती थी और कभी आकाशकी ओर ठगड़े श्वास ले २ कर निहारती थी।

६. एक दिन क्या हुआ। कड़कते दोपहरका समय था और एक साधु महात्मा द्वारके सामने दिखाई पड़े। प्यासके कारण महात्माके कण्ठसे ठीक शब्द भी न निकलता था। वह थका हुआ था। वहीं बैठ गया और 'बेटी' यह कह कर पानी लानेके लिए इशारा किया। देवीने झट पानी लाकर पहिले उसके पांव धोए और फिर पीनेके लिये ग्लास भर कर आगे कर दिया। महात्माने उसकी श्रद्धा तथा सेवासे प्रसन्न होकर पूछा कि 'बेटी' तेरा पति क्या काम करता है, तुम्हें कोई कष्ट तो नहीं। यह सुनते ही उस सुन्दरीकी आंखें भूमिके साथ लग गयीं और उसने चाहा कि पृथिवी फटे और मैं इस नित्यके दुःखको पर पुरुषके आगे खोलनेसे पूर्व ही समा जाऊं। महात्मा दीर्घदर्शी तथा करनी वाला था। उसे आश्वासन दिया।

धैर्य करने तथा धर्म पर दृढ़ रहनेकेलिये कहा और चल दिया ।

७. प्रभु सब सम्बन्ध मिलाने वाले हैं । उस देवीकी सेवाने साधुको जहां मोहित किया, वहां उसकी दीनावस्थाने उस के हृदयमें तीखी कटारी भी घोंप दी । हो न हो, मैं उसका दुःख दूर करूं, यह भाव उसके मनमें जागृत हुआ । इधर उधरसे समाचार पता करके, अचछा अवसर देखकर साधुप्रसादसेजामिला ।

८. आधी रातका समय था । साधुप्रसाद चौथड़ोंसे अपने शरीरको ढांपकर एक तंग गलीके सिरेपर छोटोसे मकानके बाहिर पड़ा था । वह सोया हुआ न था । कभी २ उसके हाथ २ का सूक्ष्म शब्द उसके लंबे २ श्वासके साथ निकलता हुआ सुनाई देता था । कुछ दिनोंसे उसके हाथ पहले कुछ न रहा था । ऋण लेने वालोंने जब यह देखा कि वह सब कुछ उजाड़ चुका है और अब उसे चूसनेसे एक वृन्दकी भी आशा नहीं, तो उन हत्यारे, पापियोंने उसे ऐसे बेढब समयमें इस तरह गलीमें धक्का दे दिया था । अब कई दिनसे वह घर नहीं गया और न इस अवस्थामें जाने को जी करता है । अपना पेट भरनेको भी उसके पास फूटी कौड़ी नहीं । कौनसा मुख लेकर अपनी विवाहिता, प्राण प्यारी पत्नीको मिले, जिसने उसे प्रसन्न करनेके लिये घरके बर्तन तक भी उसके हाथमें देदिये थे । बस, अब वह अपने आपमें पानी २ होकर, किसी न किसी तरहसे जीवन की डोरीको काटनेकी चिन्ता में था । उसके सिरहाने खड़े होकर, महात्माने गंभीर ध्वनिसे कहा, 'सोने वाले, उठो, हमारे साथ चलो' ।

६. उसके शब्दका विचित्र प्रभाव था । वह चौंक पड़ा । उसे किसी प्रश्नका साहस न पड़ा । मानो, आदेशका बंधा हुआ, उसके पीछे २ चल पड़ा । उसके आश्चर्यकी कोई सीमा न थी जब उसने अपने आपको अपने ही मकानके द्वार पर खड़े देखा और महात्मा को यह कहते हुए सुना कि, 'बेटी, द्वार खोलो' । द्वार खुल गया, साधुने साधुप्रसादको संकेत किया और दोनों जने अन्दर प्रविष्ट होगये । देवी हक्का बक्का, हैरान खड़ी थी । अन्धेरेमें वह अपने पतिदेवको पहचान न सकी थी और महात्मा भी उस दिनके पीछे आजही आये थे । उसकी व्याकुलताको भांपकर, महात्मा बोले, 'बेटी ! मत घबराओ, यह तुम्हारे गृहका स्वामी, तुम्हारा प्राण-पति है । और, मैं वही प्यासा साधु हूँ, जिसकी तृषाको बुझाकर तुने अपना दुःख दूर करनेके लिये उसे बांध सां रखा है' । देवीका चित्त शान्त हुआ । द्वार बन्द किया और अन्दर आकर दीपक जलाया । कई दिनके उपरान्त, पतिके दर्शनोंसे उसका बुझा हुआ चित्त फिर चमक उठा । परन्तु उसकी उस दुर्दशा तथा साधुके साथ ऐसे समयमें आनेकी रीतिको देखकर वह कुछ घबरा रही थी ।

१०. महात्माने कहा, 'देवि, तू मत घबरा । मैं तेरे प्राण-प्यारेको उस अन्धेरे कुएंसे अब निकाल लाया हूँ । वास्तवमें, इसके अपने शुभ कर्म ही इसे निकाल लाये हैं । अब धीरे २ पिछला धोना धोया जावेगा और फिर तुम दोनों आनन्द-पूर्वक अपने पूर्वजोंकी प्रतिष्ठाको पाल सकोगे' । वह धर्म तथा शान्तिकी मूर्ति शान्त होकर सुनती रही और बात हो चुकने पर उसने वाणीको कृतज्ञताके प्रकट करनेमें असमर्थ पाकर ग्रीवाको उस महती कृपाके भारके नीचे झुका दिया ।

११. थोड़ी देरके पीछे महात्माने साधुप्रसादको कुछ लज्जित किया, कुछ डांटा, कुछ उभारा, कुछ कष्टसे निकलनेका मार्ग बताया और कुछ सहायताकी आशा दिलाई । उसका स्वरूप उसके सामने ऐसे रख दिया, मानो, दर्पणमें अपनी छायाको देख रहा है । उसने अपने आपको कुल-कलंकी अनुभव किया । उसने महात्माकी कृपासे अपने हृदयमें उठती हुई शक्तिकी रेखाओंको भी देखा । उसका चिरकालसे मुरझाया हुआ मुखारविन्द फिर खिलने लगा । आंखोंमें फिर वही प्रकाशकी झलक दीखने लगी । कांटेकी नाईं सूखे हुए होठों पर फिर मुस्क्यान खेलने लगी ।

१२. थोड़ेही दिनोंमें उसका काम चमकने लगा । मराड़ीमें इस बातकी चर्चा होने लगी । लोग साधुकी महिमा गाने लगे । ऐसा प्रतीत होता था कि अब वह शीघ्र ही पुरानी सम्पत्तिको लौटा लेगा और उसके पूर्वजोंके नामका फिर एकवार उजियारा होगा । परन्तु ये व्यसन भी बड़े गहरे शत्रु होते हैं । पुराने कृपालु मित्रोंने भी पुराने मित्रके लौटते हुए दिनोंका समाचार सुना । झट तय्यारीकी और बधाई देने चल पड़े । पुरानी आखोंका मिलना और उन्हीं संस्कारोंका जागना था । दो चार दिनोंके पीछे महात्माका जो उधरसे जाना हुआ, तो दुकान खुली थी, पर साधुप्रसाद वहां न था । पड़ोसियोंसे पुराने साथियोंके मेल की भिनक पड़ी और महात्मा समझ गये कि दालमें कुछ काला है ।

१३. इधर वह भी अबलाके दुःखहरणका संकल्प धारण कर ही चुका था । पुनः वही तंग गली और वही छोटासा मकान ।

ज्यों ही अन्दर पग धरा, तो “आ, लगा दुकान,” यह शब्द सर्पके समान सर २ करते हुए उसके कानोंको काटनेको पड़े। “बस,” महात्माने अपने स्वाभाविक दवावसे कहा और सब देखते ही रह गये। साधु आगे २ और सेठ साहिब पीछे २ मकानसे बाहिर गलीमें और गलीसे बाहिर अपने बाजारकी ओर चल पड़े। साधुने वृत्तान्त सुन कर निश्चय किया कि साथ रह कर इसके संस्कारों को ठीक करूं। सदाके सत्संगसे तथा साधुकी प्रेरणासे किये हुए पुण्य, दानके शुभ कर्मोंसे चित्तकी शान्ति और आत्माकी प्रसन्नताके साथ पेश्वर्थ बढ़ने लगा। समय पाकर महात्माका संकल्प पूरा हुआ और वे पति, पत्नी अपने सन्तानके पालन तथा शिक्षण में लग गये।

१४. कई वर्ष बीत गये। लालाजीके सिरपर कोई २ काला बाल दिखाई देता था। अब वे दुकानपर अधिक नहीं बैठते थे। कथा वार्त्ता तथा पूजा, पाठमें अधिक समय बिताया करते थे। घर तथा दुकानका काम लड़के वाले ही चलाते थे। महात्मा भी इस अन्तरमें देशाटन पर गये रहे। विचार हुआ कि चलें, लाला जीको देखें, अब वे किस हालमें रहते हैं। आकर, सब प्रकारसे उन्नति देख कर बड़े हर्षित हुए। पृच्छने पर पता लगा कि देवीका स्वर्गवास हो चुका है अब वे कुछ दिन वहीं रहे और लाला जीको सन्यास धर्मका उपदेश किया। परिवारके लोगोंने कुछ बाधा डालनी चाही। पर वहां तो मोहपाश पहिलेसे ही भुरभुरे हो रहे थे। हाथ लगनेकी ही देर थी, बस वे चूर २ हो गये। साधुप्रसाद वास्तवमें साधुके ही प्रसादसे तर गया।

कथाका भाव ।

१५. यह कथा ज्ञान तथा कर्मके परस्पर संबंध को भली भाँति प्रकट कर रही है। बुद्धिमान विचार करें कि यदि वे महात्मा साधुप्रसादको केवल अपने स्वरूपका उपदेश अथवा जुपकी निन्दा तथा पुरुषार्थकी प्रशंसा करके ही सन्तुष्ट होकर चले जाते, तो उसका कल्याण क्यों कर हो सकता था। इस लिये उन्होंने उसे बुरी संगतसे निकाला और उसकी प्रकृति तथा योग्यताके अनुसार कार्य में लगाया। जब वह पुराने संस्कारोंके दबावमें फिर आने लगा, तो भट्ट पहुँच कर उसकी नकेल कस दी। और, अच्छे प्रकार अपनी देख, रेखमें रखकर, मानो, उसके मनको धो डाला। अब वह धर्मानुसार मर्यादाका पालन करते २ केवल लौकिक भावसे उपराम हो गया। उसकी तृष्णा मिट चुकी थी, उसकी वासनाएं शान्त हो चुकी थीं। अब नित्य, अनित्यमें विवेक करना उसके लिये स्वाभाविक था। अब वह इस योग्य हो गया था कि विरक्त होकर, अन्तिम तत्त्वमें समाधिस्थ होकर निर्वाणपदको प्राप्त करे। इसी अवस्थामें लानेके लिये संन्यासाश्रम में उसे दीक्षित किया गया।

—०*०—

षष्ठ प्रकरणा ।

स्वर्ग की सीढ़ी ।

१. हममें से प्रत्येक कुछ न कुछ अंशोंमें पूर्वोक्त साधुप्रसादके समान साधक हैं। हम सुख तथा शान्तिसे केवल ऐसा समझ

कर ही, कि हम शुद्ध, चैतन्यस्वरूप, अविनाशी, संसारमायासे मुक्त तथा सब संसर्गोंसे अस्पृष्ट हैं, परम पदको प्राप्त नहीं कर सकते । यह आवश्यक है कि इस ज्ञानको अपने स्वाभाविक जीवनका अंग बनाया जावे । इस बातकी सिद्धि तब होगी, जब हम अपनी दिनचर्या, ऋतुचर्या तथा जीवनचर्याको विशेष प्रकारकी पद्धतिके अनुसार चलायेंगे । इसको दूसरे शब्दोंमें कर्ममार्ग कहते हैं । इसीका दूसरा नाम वर्णाश्रमधर्म है । इसके अन्दर योग्यसे योग्य तथा नीचसे नीच कोटिके मनुष्योंके लिये यथा-योग्य स्थान तथा अधिकारका उपदेश पाया जाता है । मनुष्योंमें परस्पर भूमि और आकाशका अन्तर हो सकता है, परन्तु अपनी २ योग्यतानुसार इस धर्मका पालन करते हुए वे तुल्य-रूपसे आर्य कहलाते हैं । प्रत्येक साधक सब्जे गुरुओंकी देख रेखमें अपनी कक्षाके अनुसार, जो उसका धर्म हो, उसका पूरे ध्यानसे पालन करता हुआ उत्तरोत्तर उन्नति करे ।

२. ब्राह्मणधर्म बड़ा पवित्र है, परन्तु जो व्यक्ति स्वभाव तथा योग्यतानुसार वैश्य है, यदि वह अपना स्वाभाविक धर्म छोड़कर ऊपर कूदना चाहेगा, तो मुँहकी खाकर गिरेगा । संन्यासी तथा परिव्राट् का आदर्श बड़ा ऊँचा है, परन्तु अनधिकारी लोग इसे धारण कर अपना जीवन भी खोते हैं और दूसरों पर भी भाररूप बनते हैं । इसी भावको भगवद्गीतामें बड़ी सुन्दरतासे वर्णन किया गया है ।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

भ० गी० ३ । ३५ ॥

अर्थात्, मनुष्यको चाहिये कि अपने गुणानुरूप धर्मका पालन करता हुआ निसन्देह प्राण दे दे, परन्तु अनधिकार चेष्टा करता हुआ लज्जित तथा अपयशका भागी न हो । यह मृत्यु उसके कल्याणके लिये ही है । अस्थिर होकर अन्य धर्ममें पग रखनेका विचार न करे । ऐसा करना बड़ा भयानक है ।

३. गृहस्थाश्रम कर्ममार्गका मुख्य आश्रय है । इसके अन्दर मनुष्य पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा और इनके सहस्रों अवान्तर भेदोंके शतरंजका खिलाड़ी बना हुआ, काल क्रमसे आयु, अनुभव तथा ज्ञानके बढ़ जानेसे, ज्ञानमार्गकी परम पदवी पर चढ़नेके योग्य बन सकता है । यदि वर्त्तमान युगमें यह आश्रम ऐसा दिखाई नहीं देता, तो इसे शास्त्रोंकी मर्यादानुसार पवित्र करनेका यत्न करना चाहिये । इसी चक्रके अन्दरसे निकल कर मनुष्य वास्तव त्यागको समझने और धारण करनेके योग्य हो सकता है ।

४. इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञान तथा कर्म परस्पर सहायक तथा आवश्यक मार्ग हैं । यह एकही जीवन-पटके दो आंचल हैं । इनमें परस्पर तनिक भी विरोध नहीं । ज्ञान हमें अपना आप अनुभव कराना चाहता है । कर्म हमारे पांवको उधर चलनेके योग्य बनाता है । ज्ञान दर्पणकी ओर संकेत करता हुआ, अपना रूप देखनेके लिये प्रेरित करता है । कर्म हमें वह योग्यता देता है, जिससे हम दर्पणको शुद्ध और निर्मल बना सकें । ज्ञान हमारी ज्योति है । कर्म हमारा बल है ।

५. भवसागर ठाठें मार रहा है । पार जानेको कोई मार्ग दिखाई नहीं देता । किनारे २ एक सड़क चलती है । कहीं २

बड़े २ चक्र भी काटकर जाती है। अपरिचित यात्रीका अकेले उस सड़कपर पड़नेका साहस नहीं होता। दोचित्ता होकर सोच में पड़ा है। अब विचार उठता है कि चल पड़ूं और अभी हारकर फिर बैठ जाता है। दो पहर बीत चुके हैं। तीसरा पहर आ पहुंचा है। रात्रि सिरपर खड़ी है। इस भयानक दशामें, जब न कोई मित्र पास है और न सहायक दिखाई देता है, ज्ञानरूपी पथ-प्रदर्शक आ पहुंचता है। कर्मरूपी घोड़ा उसके पास है। यात्री की जान में जान आजाती है। प्रभु का धन्यवाद करता हुआ घोड़ेपर सवार होकर चल पड़ता है। यात्रा बड़ी लम्बी है। तीसरे पहरके पीछे सांझ और फिर रात्रि भी आ जाती है। धन्य है वह मार्गप्रदर्शक, धन्य है वह घोड़ा और धन्य है वह सवार ! विना दमलिये, इधर उधर भोंके भांके या अन्य प्रकारसे विक्षिप्त हुए चलाचल चलाचल चलते ही जाते हैं।

६. दूरसे कुक्कुड़की बांग सुनाई पड़ी। तारागणका प्रकाश मद्धम हो गया है। सप्त ऋषि नीचे लटक पड़े हैं। पूर्वमें अरुणका उदय हो रहा है। प्रभातका सुहावना समय है। पथप्रदर्शक भट्ट ठहर जाता है। सवारको होशियार करता है। सामने समुद्र है। कोई पारावार नहीं। पर अब घबराहटकी कोई बात नहीं। इस पार सुन्दर घाट बना हुआ है। पथप्रदर्शक हाथका सहारा देकर, थके हुए सवार को उतारता है और एक विशाल नौका में, जो तैय्यार खड़ी है, उसे ला बिठाता है। बस, नौका चल पड़ती है। यात्री मन ही मन कभी घोड़ेको स्मरण करता है और कभी उस दयालु सहायकका, जिसने उसे अब सब

चिन्ताओंसे मुक्त करने वाली, अथाह सागरकी भयानक लहरोंके थपेड़ोंसे बचाकर पार लेजाने वाली भक्ति तथा उपासनाकी दिव्य नौका पर ला बिठाया है, आनन्दाश्रु बहा २ कर धन्यवाद करता है ।

७. पाठक वर्ग, इस प्रकार ज्ञान तथा कर्म दोनों मिलकर सच्ची उपासना का मार्ग दिखाने वाले हैं । भवसागर तो पास ही था, पर इतनी लंबी यात्राके पीछे नौकाके मिलनेका यही तात्पर्य है, कि विना ज्ञान तथा कर्मकी सिद्धिके भक्ति अधूरी रहती है । उसे करते हुए हम संसार-सिन्धुसे पार होनेकी आशा नहीं कर सकते । हमारे धार्मिक जीवनकी नींव पक्की नहीं हो सकती । इसका यह भाव नहीं कि ज्ञान तथा कर्ममें पूर्ण होनेसे पूर्व भक्ति करनी ही न चाहिये । नहीं, जिस तरह कर्मरूपी घोड़ा पथप्रदर्शकके साथ मिल करही हमारा सहायक होता है, ऐसे भक्ति भी इनके साथ मिल कर ही हमारे लिये पूरी लाभदायक होती है ।

८. ज्ञानके दो भाग समझने चाहिए । एक साधारण ज्ञान और दूसरा परिपक्व विवेक । पहिलेसे हम धार्मिक जीवनका प्रारंभ करते हैं और दूसरेपर पहुंच कर सिद्धमनोरथ हो जाते हैं । कर्म दोनोंके बीचमें आ जाता है । भक्तिके भी दो भेद हैं । प्रथम, कर्मरूप सन्ध्योपासनादि और दूसरा पूर्ण अनुभव और आत्म-प्रसाद । यही आत्मप्रसाद है, जो धार्मिकयात्राका अन्तिम फल है । यात्राकी समाप्तिपर ही प्रभु अपने भक्तोंको इसे प्रदान करते हैं और मानो, इसी नौका पर बैठ कर सच्चा भक्त जन्म मरणके बन्धन से मुक्त हो जाता है ।

सप्तम प्रकरण ।

शास्त्रोक्त संगति ।

१. 'यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति । यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्' ॥ ऋ० १० । ७१ । ६ ॥

अर्थ :—(यः) जो मनुष्य (सचिविदम्) साथ देने वाले (सखायम्) मित्र [ज्ञान-मार्ग] का (तित्याज) परित्याग कर देता है, (तस्य) उस [मूर्ख] के लिये (वाचि) वाणी (रखते हुए) (अपि) भी (उस) में (कोई) (भोगः) आनन्दका भाव (न अस्ति) नहीं रहता; (यत् इम्) जो कुछ (शृणोति) वह सुनता है (अलकम्) अत्यल्प ही (शृणोति) सुन पाता है, (नहि) क्योंकि नहीं (प्रवेद) वह जानता (सुकृतस्य) पुण्यके (पन्थाम्) मार्गको ।

भावः—साधारण सुनने या पढ़नेमें और धार्मिक दृष्टि-कोणसे आत्म-ज्ञानके लिये विद्या प्राप्त करनेमें बड़ा अन्तर है । मनुष्यको चाहिये कि सच्चे ज्ञानका साथ कभी न छोड़े ।

२. चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नैगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ऋ० १ । १६४ । ४५ ॥

अर्थ :—[सकल ज्ञेय संसारके] (वाक् परिमिता) वाणी द्वारा मापे हुए [चत्वारि] चार (पदानि) भाग [हैं] (तानि)

उन [चारोंको] (ये) जो (मनीषिणः) योगयुक्त (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण [होते हैं, वे ही] (विदुः) जानते हैं । [उनमें से] (त्रीणि) तीन (गुहा) [सूक्ष्म बुद्धिकी] कन्दरा में (निहिता) स्थापित रहते हैं [और बाहिर] (न, इंगयन्ति) प्रकट नहीं होते । [साधारण] (मनुष्याः) मनुष्य (वाचः) वाणीके [केवल] (तुरीयं) चौथे भागको [ही] (वदन्ति) बोलते हैं ।

भावः—वास्तवमें ज्ञानका लक्ष्य सम्पूर्ण जागृतिका पैदा करना है । साधारण लोग केवल एक भागको जानकर सन्तुष्ट और अहंकारी से होजाते हैं । तीन चौथाई ज्ञान मानो, हमारे अन्दर सोया रहता है । साधनसम्पन्न तपस्वी ज्ञान-भक्त ही उस सोई हुई सरस्वतीको जगा सकते हैं ।

३. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्त इमे समासते ॥ ऋ० १ । १६४ । ३९ ॥

अर्थः—(यस्मिन्) जिस (अक्षरे) अविनाशी (परमे) परम (व्योमन्) व्यापक [परमात्म-तत्त्व] में (विश्वे) सकल (देवाः) दिव्य शक्तियां (अधि निषेदुः) आश्रित हैं, [उसीमें] (ऋचः) [शब्दरूप] मन्त्र, स्तोत्र [चरितार्थ होते हैं] । (यः) जो (तत्) उसे (न वेद) नहीं जानता, (ऋचा) स्तोत्रों द्वारा [वह] (किम्) क्या (करिष्यति) करेगा । (ये, इत्) जो निश्चय करके (तत्) उसे (विदुः) जानते हैं, (ते) वे (इमे) ये [संसारमें कहीं २ पाये जाने वाले विवेकी] (समासते) शान्ति को प्राप्त होते हैं ।

भावः—सारे ज्ञानकी परम सीमा वह प्रभु है । वेद, शास्त्र पढ़कर विवेक धारण करना ही मनुष्यका लक्ष्य है । इसके बिना जीवन नरक-समान है और इसे पाकर स्वर्ग ही स्वर्ग है ।

४. “तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम्” ॥ ऋ० १ । २२ । २० ॥

अर्थः—(सूरयः) विद्वान् जन (सदा) (विष्णोः) सर्व-व्यापक प्रभुके (तत्) प्रसिद्ध (परमं, पदं) परम पदको [ऐसेही बाधारहित होकर] (पश्यन्ति) देखते हैं, (दिवीव) जैसे आकाशमें (चक्षुः) दृष्टि (आ-ततम्) पूर्णतया फैल जाती है ।

भावः—योगाभ्यास आदि साधनों द्वारा प्रभुका साक्षात्कार करना ही ज्ञानी लोगोंका परमलक्ष्य होना चाहिये ।

५. “न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा । ज्ञानप्रसादेन तु विशुद्धसत्त्वस्तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः” । मुण्डकोपनिषद् ३ । १ । ८ ॥

अर्थः—[परमात्म-तत्त्व इतना सूक्ष्म है कि वह] (चक्षुषा) नेत्र (अपि) और (वाचा) वाणी, (अन्यैः) दूसरी (देवैः) इन्द्रियों, (तपसा) तप (वा) या (कर्मणा) कर्मके द्वारा (न, गृह्यते) ग्रहण नहीं किया जा सकता । (ज्ञान प्रसादेन) ज्ञानके निर्मल हो जानेसे (तु) पर (यदा) जब [मनुष्य] (विशुद्धसत्त्वः) शुद्ध सत्त्ववाला होजाता है, (ततः) तो (ध्यायमानः) ध्यान करता हुआ (तं) उस (निष्कलं) अखण्ड, एकरसको (पश्यते) साक्षात् कर लेता है ।

भावः—जब तक ज्ञानकी पवित्रता न हो और उपासना

योगको धारण न किया जावे, तब तक उस इन्द्रियातीत, पर-
ब्रह्मका साक्षात्कार केवल कर्मादिसे नहीं होसकता ।

६. “भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे” ॥
मुण्डुक० २ । २ । ८ ॥

अर्थ:—(तस्मिन्) जब उस (परावरे) दूरसे दूर और
समीपसे समीप [वर्तमान प्रभु] (दृष्टे) के दर्शन होजाते हैं, तो
(हृदयग्रन्थिः) हृदयकी गांठ (भिद्यते) खुल जाती है (सर्व-
संशयाः) सारे संशय (छिद्यन्ते) छिन्न भिन्न होजाते हैं, (च)
और (अस्य) मनुष्यके (कर्माणि) कर्म (क्षीयन्ते) समाप्त
होजाते हैं ।

भाव:—ज्ञान, कर्म तथा उपासनाकी अवधि प्रभुका दर्शनही
है । वह हुआ और साधनकी समाप्ति और नित्य आनन्दका
प्रारंभ समझो ।

७. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ऽ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजु० ४० । २ ॥

अर्थ:—[मनुष्य को चाहिये] (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्)
करता हुआ (एव) ही (शतं) पूर्ण (आयुः) आयु (जिजीविषेत्)
जीने की कामना करे । (एवं) ऐसे (त्वयि) तुझ (नरे) नरमें
(कर्म) (न) नहीं (लिप्यते) चिमटता । (इतः) इससे (अन्यथा)
और कोई दूसरा प्रकार (न) नहीं (अस्ति) है ।

भाव:—कर्म छोड़ देने से नहीं छूटता, अधिक बन्धनोंमें

फंसना पड़ता है । ज्ञानपूर्वक, अनासक्त होकर, नर बनकर, करते रहनेसे कर्म मोक्षमें सहायक बनजाता है ।

८. 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

न च कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥'

भ. गी. ३।४—५॥

अर्थ:—(कर्मणाम्) कर्मोंके (अनारंभात्) आरंभ न करनेसे (पुरुषः) पुरुष (नैष्कर्म्यं) कर्मसे छुटकारेको (न, अश्नुते) नहीं पाता है (च) और (न) नहीं (एव) केवल (संन्यसनात्) त्यागकर देनेसे (सिद्धिं) सिद्धिको (समधिगच्छति) ठीक २ प्राप्त होता है, (हि) क्योंकि (कश्चित्) कोई भी (जातु) कभी (क्षण) क्षण [मात्र] (अपि) भी (अकर्म-कृत्) विना कर्म किये (न, तिष्ठति) नहीं ठहर सकता, (हि) क्योंकि (सर्वः) सब कोई (प्रकृतिजैः) स्वाभाविक (गुणैः) [सत्त्व, रजस् तथा तमस्] गुणों द्वारा (अवशः) विवश होकर (कर्म) (कार्यते) कराया जाता है ।

भावः—कर्म करना अनिवार्य है । अतः शुभ कर्मोंमें निष्काम भावसे प्रवृत्त होनाही मुख्य धर्म है ।

९. 'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

तस्मात्सक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

भ. गी. ३। ८, १९ ॥

अर्थः—(त्वम्) तू (नियतं) निश्चय करके (कर्म) (कुरु) कर, (हि) क्योंकि (अकर्मणः) न करने से (कर्म) करना (ज्यायः) अधिक अच्छा है (च) और तो और (ते) तेरी (शरीरयात्रा) (अपि) भी (अकर्मणः) बिना कर्म किये (न, प्रसिद्धयेत्) नहीं चल सकती । (तस्मात्) इस लिये (सततं) सदा (असक्तः) लगावट को छोड़कर (कार्यं) करने योग्य (कर्म) को (समाचर) करते रहो, (हि) क्योंकि (असक्तः) न फंसकर (कर्म) (आचरन्) करता हुआ (पूरुषः) पुरुष (परम्) परम पदको (आप्नोति) प्राप्त होजाता है ।

भावः—कर्मसे मत घबराओ । कर्म करना सीखो । कीचड़ वाले मार्गसे डरो नहीं, उसमेंसे निकलकर जाना सीखो । ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म ही बन्धनका हेतु नहीं होता ।

१०. न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

भ० गी० १८। ११ ॥

कामेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।

योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगंत्यत्त्वात्मशुद्धये ॥

भ. गी० ५। ११ ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥

भ० गी० ४। ४१ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥

भ० गी० १६ । २४ ॥

अर्थ:—(हि) क्योंकि [यह] (शक्यं) संभव (न) नहीं [है कि] (देहभृता) देहधारी (अशेषतः) पूर्णतया (कर्माणि) कर्मों को (त्यक्तुं) छोड़ दें (तु) इस लिये (यः) जो (कर्मफलत्यागी) कर्मोंके फल [की लालसा] का त्याग कर देता है (सः) वह (त्यागीति) त्यागी है, ऐसा (अभिधीयते) कहा जाता है ।

(योगिनः) योगी लोग (आत्मशुद्धये) आत्माकी शुद्धि के लिये (संगं) फलके प्रति लालसाको (त्यक्त्वा) छोड़ कर (कामेन) इच्छापूर्वक (मनसा) मनद्वारा, (बुद्ध्या) बुद्धिद्वारा (अपि) और (केवलैः) केवल (इन्द्रियैः) इन्द्रियोंद्वारा (कर्म) (कुर्वन्ति) करते हैं ॥ हे (धनंजय) अर्जुन ! (योगसंन्यस्तकर्माणं) जिसने योगद्वारा [उपर्युक्त प्रकार से] कर्मका त्याग किया है, (ज्ञानसंछिन्नसंशयं) जिसके संशय [इसी प्रकार] ज्ञानसे नष्ट होगयेहैं (आत्मवन्तं) [और] जिसने [उपासना द्वारा] आत्मानुभाव को पालिया है, [उसे] (कर्माणि) कर्म (निवद्मन्ति) फंसाते (न) नहीं । (तस्मात्) इस हेतु से [हे भवसागरतीर्थी] (शास्त्रं) शास्त्र (ते) तेरे लिये (कार्याकार्यव्यवस्थितौ) कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था करने के लिये (प्रमाणं) प्रमाण [होना चाहिये] । (शास्त्रविधानोक्तं) शास्त्रों में प्रतिपादित (कर्म) को

(ज्ञात्वा) जानकर (इह) यहां (कर्त्तुं) करना (अर्हसि) तुम्हारे योग्य है ।

भावः—इस प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्रने ज्ञान मार्ग तथा कर्ममार्गका अच्छी तरहसे सहयोग बताकर प्रत्येक साधकको मार्ग दिखाया है ।

११. सांख्ययोगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।

एकमप्यास्थितः सम्यग्भयोर्विन्दते फलम् ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

अर्थः—(वालाः) बालक (न) न [कि] (पण्डिताः) पण्डित (सांख्य योगौ) ज्ञान और कर्मको (पृथक्) (प्रवदन्ति) कहते हैं । (एकम्) एक (अपि) भी (सम्यग्) ठीक प्रकारसे (आस्थितः) धारण किया हुआ (उभयोः) दोनों के (फलं) फलको (विन्दते) प्राप्त होता है ।

(यत्) जो (स्थानं) पद (सांख्यैः) ज्ञानसिद्धोंद्वारा (प्राप्यते) प्राप्त किया जाता है, (तत्) वही (योगैः) कर्मसिद्धों द्वारा (अपि) भी (गम्यते) प्राप्त किया जाता है । [इसलिये] (सांख्यं) सांख्य (च) और (योगं) योगको (यः) जो (एकं) एक [ही] (पश्यति) समझता है, (सः) वही (पश्यति) [वास्तवमें] दृष्टि रखता है ।

भावः—ज्ञान और कर्मका परस्पर विरोध तो दूर रहा, वे तो एकही चित्रके दो पार्श्व हैं । दोनों मिलकरही एक पूर्ण जीवन बनाते हैं ।

१२. अव्यसश्च व्यचसश्च विलं विष्यामि मायया ।

ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे ॥

अथर्व० १९ । ६८ । १ ॥

अर्थ:—(अव्यसः) न फैले हुए (च) और (व्यचसः) फैले हुए [दोनों प्रकारके पदार्थोंके] (विलं) रहस्यको (मायया) आश्चर्यरूप [ज्ञान] से (विष्यामि) खोलता हूं । (ताभ्यां) उनसे (वेदं) अनुभवको (उद्धृत्य) प्राप्त करके (कर्माणि) कर्मोंको (कृण्महे) हम करते हैं ।

भावः—प्रकृति और परमात्मा फैले हुए हैं और जीव अणु है । तीनों तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करके उपर्युक्त प्रकारसे शास्त्रानुसार कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये * ।

१३. 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

यजु० ४० । १४ ॥

अर्थ:—(यः) जो (विद्यां) ज्ञान (च) और (अविद्यां) कर्मको (तत्) इसलिये (उभयं) दोनोंको (सह) इकट्ठा (वेद) जानता है, (अविद्या) कर्मद्वारा (मृत्युं) मृत्युको (तीर्त्वा) पार करके (विद्यया) विद्याद्वारा (अमृतं) अमृतको (अश्नुते) प्राप्त होजाता है ।

भावः—ज्ञानरहित कर्म बन्धनका हेतु होनेसे अविद्याके

* देखो, मेरा ग्रन्थ वेदसंदेश, अ० १, उ० ३, मं० १३ और उसके आगेके मंत्र, जिनमें अन्तिम लक्ष्य तथा शान्तिकी प्राप्तिका वर्णन पाया जाता है ।

नामसे वर्णन किया गया है । कर्मवीर होकर मृत्युके भयसे मुक्त होकर ज्ञान और विवेकद्वारा नित्य, अमृत प्रभुसे संबंध जोड़ना चाहिये ।

१४. तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति ॥ छान्दोग्य १।१।१० ॥

अर्थ:—(तेन) इस प्रकार (उभौ) दोनों, (यः) जो (एतत्) यह [कर्म और ज्ञानका संबंध] (एवं) ऐसे (वेद) समझता है (च) और (यः) जो (न) नहीं (वेद) जानता, (कुरुतः) कर्म करते हैं, (तु) परन्तु (विद्या) (च) और (अविद्या) (नाना) अलग २ हैं, [अतः] (यत्) जो (एव) कुछ (विद्यया) विद्या (श्रद्धया) श्रद्धा (उपनिषदा) विवेकसे युक्त होकर [मनुष्य] (करोति) करता है, (तत्) वह (एव) ही (वीर्यवत्तरं) अधिक बलयुक्त (भवति) होता है ।

भाव:—इसलिये प्रत्येक साधकको चाहिये कि मुमुक्षु बनकर ज्ञान और कर्मके इस स्वरूपको ठीक २ समझ कर पुरुषार्थवान् हो ।

१५. विरजः आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः ।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥

श० कां० १४।अ० ७।२।२३ ॥

अर्थ:—(आत्मा) (विरजः) विक्षेप रहित (आकाशात्) आकाशसे (परः) सूक्ष्म, (अजः) अजन्मा (महाध्रुवः) अति निश्चल है (धीरः) धीर [साधक] (तम्) उसे (एव)

ही (विज्ञाय) जानकर (ब्राह्मणः) सच्चा ब्रह्म-भक्त [बन कर] (प्रज्ञां) स्थिर मतिको (प्रकुर्वीत) धारण करे ।

भावः—ज्ञान और कर्मकी समाप्ति प्रभुभक्तिमें है । मनुष्यको चाहिये कि उन्हें धारण कर, अपने स्वरूपको समझे और धारणाको स्थिर कर ले । अब पूर्वोक्त नौका पर चढ़ कर इधर उधर न डिगमगाए ।

१६. “मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वं । इष्कृणुध्वमायुधारंकृणुध्वं प्रांचं यज्ञं प्रणयता सखायः ॥ ऋ० १० । १०१ । २ ॥

अर्थः—(मन्द्रा) उत्साहवर्धक [विचार] कृणुध्वं करो । (धियः) बुद्धियोंको (आ तनुध्वम्) विस्तृत करो । (अरित्र-परणीम्) चपुओं द्वारा पार ले जाने वाली (नावम्) नौकाको (कृणुध्वम्) तय्यार करो । (सखायः) हे मित्रो ! (इष्कृणुध्वम्) तय्यार होजाओ । (आयुधा) हथियार (अरं कृणुध्वम्) ठीक बना लो (यज्ञं) यज्ञको (प्रांचं) आगे २ (प्रणयत) ले चलो ।

भावः—इस श्रुति द्वारा यह अति स्पष्ट है कि उपासनाकी नौका पर चढ़ने और सफलतापूर्वक यात्रा समाप्त करनेके लिये बुद्धिके विस्तार तथा विवेककी एक ओर, और सामर्थ्ययुक्त होकर कर्मण्यताकी दूसरी ओर कितनी आवश्यकता है ।

१७. परन्तु यह दुःखकी बात है कि आर्य शास्त्रोंमें इतना पूर्ण वर्णन होते हुए भी, हमारी मन्दभाग्यतासे कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग भिन्न २ समझे गये और रात दिन परस्पर लड़ने झगड़ने वाले संप्रदायोंके बीज बने । आर्यावर्चके

इतिहासमें एक समय आया, जब कर्मरूपी घोड़ेकी लगामको बिल्कुल छोड़ दिया गया। कर्मके द्वारा ही सुख, दुःखको होते हुए देख कर परमात्माकी ओर विमुखता सी पैदा होने लगी। विचार तक ध्यानको छोड़, केवल मन्त्रोंके रटने, पुरश्चरणों तथा अनुष्ठानोंके करने और यज्ञोंमें आहुतियोंके डालनेको ही स्वर्गारोहणकी सीढ़ी समझा गया। परिणाम क्या हुआ ? यज्ञके नाम पर असंख्य अत्याचार होने लगे। भगवान् बुद्धके अन्दर इस अन्धे कर्मकाण्डने भी एक अंशमें अपना पूरा प्रभाव पैदा किया। बौद्ध लोगोंने आर्य सभ्यताके मूल अर्थात् वेदोंसे ही संबंध तोड़नेमें अपना कल्याण समझा। यदि वे ऐसा न करते, तो संभावना यही है कि अन्य संप्रदायोंकी भान्ति वे भी आर्यधर्मके अन्दर ही रहते।

१८. श्रीशंकराचार्य तथा श्रीकुमारिल भट्टके समयमें उन लोगोंका वेद-निन्दक होना ही ब्राह्मणोंके लिये असह्य होकर, वेदान्तके प्रचारमें निमित्त बना। नहीं तो, सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेसे पता लगता है कि दार्शनिकभावसे बौद्ध तथा वेदान्ती एकही मतके दो सम्प्रदाय हैं और उस मतको हम 'विवेकवाद' का नाम देसकते हैं। इन महाशयोंका यह विचार था कि जितना शीघ्र हो, जगत्से छुट्टी मिले, क्योंकि गृहस्थाश्रमका सारा कर्म-कलाप बन्धनका हेतु है। अतएव यही दुःखका मूल है। यह सब अविद्याका खेल है। विद्वान्को चाहिये कि अलग होजावे। इतिहास साक्षी है कि पुरानी, वीर जातिपर इन विचारोंका प्रभाव बड़ा हानिकारक था।

१९. तीसरी लहर भक्तिवादकी थी। जब वेदान्तके

प्रचारसे उपासनादि सब हीन कोटिके धर्म समझे गये और लोगोंने “अहंब्रह्म” रटते २ भक्तिभावके अभावके कारण जीवनको नीरस कर दिया, तो यहां श्रीरामानुजाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, भक्त कबीर तथा गुरु नानकदेव आदि भक्तिमार्गको ही मुख्य मानने वाले प्रचारक पैदा हुए । इस ‘सन्तमत’ के प्रचारसे पूजाके कई प्रकार और फिर संप्रदाय चल पड़े । प्राचीन ज्ञान और कर्मका समन्वय उड़ जानेसे अन्धविश्वास और कपोलकल्पित बातोंका जो प्रचार हुआ, वह आयौंकी वर्त्तमान धार्मिक अस्तव्यस्त अवस्थासे भलीभांति जांचा जा सकता है । इस युगके महर्षि, आचार्य दयानन्दका संसारपर यह बड़ा भारी उपकार है कि उन्होंने सहस्रों वर्षोंके पश्चात् तीनों मार्गोंके मिलानेका उपदेश करके सबको सर्व प्रकारकी उन्नति करनेके योग्य बनाया है ।

—:o:—

अष्टम प्रकरण ।

इष्ट और पूर्त्त कर्म ।



१—सारा जीवन कर्ममय है । कमाना, खाना, विश्राम करना, सोना, सांस लेना, आंखोंका झपकाना, दान्तोंका हिलाना, सुनना, देखना, सूंघना और स्पर्श करना कर्म ही कर्म तो है । एक क्षण भी प्राणी विना कर्म किये रह नहीं सकता, परन्तु मोक्षमें सहायक, कर्म-मार्ग इन क्रियाओंका ही वाचक नहीं । ये तो भेड़ बकरी आदि सब पशुओं, पक्षियों, जलचरों तथा खेचरोंमें पायी जाती हैं । इनका करना विशेष क्रियाओंके

योग्य बनना है, क्योंकि शरीर-यात्राके ठीक चलते हुए ही ज्ञान, ध्यान, तप, दान, पुण्य, सब कुछ किया जाता है ।

२. धार्मिक उदयका हेतुरूप कर्म कई प्रकारका है । भिन्न २ जातियोंने भिन्न २ प्रकारके कर्मकाण्डकी कल्पना की है । इन कर्मोंको समझनेके लिये आवश्यक है कि उनके चलाने वालोंकी वैज्ञानिक योग्यता तथा सामाजिक और धार्मिक परिस्थितिका पूरा परिचय हो । हां, इसमें कोई सन्देह नहीं कि सब सम्प्रदायोंने अपना २ कर्मकाण्ड निश्चित करना आवश्यक समझा है ।

३. आर्यधर्मका वैज्ञानिक तथा धार्मिक स्रोत वेद है । आर्योंकी पूजाका ध्येय अनादि, अनन्त, नित्यपवित्र, परब्रह्म है । कर्मका तात्पर्य यह है कि हम इसे करते हुए इतने समर्थ होजावें कि अपने परम लक्ष्यको अपने अन्दर और बाहिर व्यापक अनुभव करसकें और पाशविक, स्वार्थ—परायण वासनाओंको दबाकर विश्वात्मता, दयालुता तथा न्यायशीलतादि मंगलकारी भावोंको हृदय में उभार सकें । जिस कर्ममय धर्मके चिरकालीन अभ्याससे यह सिद्धि होती है, उसे ऊपर वर्णाश्रमधर्मके नामसे स्मरण किया जा चुका है । इसके धारण करनेमें ऐसा हिसाब रखा गया है कि साधक इसकी सब भूमिकाओंमें से उत्तीर्ण होकर अन्त में वस्तुतः प्रभुकी दयाका पात्र बनकर निहाल हो जाता है ।

४. यहां पर इस धर्मका विस्तारपूर्वक वर्णन करना संभव नहीं । मनुष्यमात्रकेलिये साधारणरूपमें और गृहस्थोंकेलिये विशेषरूपमें उपयोगी, कर्त्तव्य-कर्मके दो मुख्य अंगोंका वर्णन

किया जाता है । एकका नाम 'इष्ट' है और दूसरेका पूर्त । इन दोनोंको मिलाकर गृहस्थका कर्मकाण्ड पूर्ण होता है ।

५. मनुष्यके सामने जो जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, उसके दो विभाग हैं । पहिला मानुष विभाग, जिसका वह स्वयं एक अंग है और दूसरा दिव्य विभाग है । इसमें सूर्य, चन्द्र, पृथिवी जल, वायु, विद्युत्, अग्नि, पर्वत, जंगल आदि भिन्न २ पदार्थ प्रभुकी अन्तर्व्यापिनी, अव्यक्त, मायामयी शक्तिसे प्रेरित होकर, संसारके विविध व्यवहारों तथा व्यापारोंमें सहायक हो रहे हैं ।

६. संसर्ग और सहवास तभी चिरस्थायी होसकता है, जब प्रत्येक व्यक्ति दूसरेके लिये कुछ अनुभव करनेका स्वभाव बनावे । इसका नाम सहानुभूति है । इस गुणकी सत्ता सब प्राणियोंमें पायी जाती है । किन्हींमें केवल संतान तक यह परिमित होता है, किन्हीं प्राणियोंमें अपनी जातिकी सीमा तक इसका विस्तार है और कहीं २ इसकी मात्रा इससे भी आगे बढ़ जाती है । समुदायिकरूपसे शेष प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्य उत्कृष्ट है । परमानव-जातिके अन्तर्गत व्यक्तियोंमें परस्पर तारतम्य देखा जाता है ।

७. 'पूर्त' उन कर्मोंका नाम है, जिनके करनेसे मनुष्य स्वार्थताके कूपसे निकल, संकोचको छोड़, अल्पदर्शिता तथा कठोरतासे ऊपर उठ, परोपकारके खुले सागरमें विहार करता हुआ, आत्माको विशाल करना सीखे और दीर्घदर्शी होकर प्राणिमात्रकी सेवार्थ अपने चित्तको दयासे आर्द्र बनाता रहे । मनुष्य दूसरे प्राणियोंकी अपेक्षा बहुत अधिक परस्पर ओत प्रोत

होकर रहता है । इससे सामाजिक लाभ होते हैं । सामाजिक तथा वैज्ञानिक बलके आधारपर ही चराचर जगत्के ऊपर मानव-शासन चल रहा है ।

८. परन्तु जहां सामाजिक जीवन हमारी शोभा है, वहां यह हमें कई सामाजिक कर्तव्योंमें भी जकड़ता है । जो मनुष्य सामाजिक संगठनसे लाभ उठाता है (और प्रत्येक व्यक्ति ऐसा ही है) उसका यह कर्तव्य बन जाता है कि समाज के अंगों को पुष्ट तथा बलवान् बनावे तथा आपत्ति और संकटके समयमें रक्षक बनकर सिरहाने खड़ा हो । ऐसा न करनेपर वह अति पापी और अल्पबुद्धि समझा जाता है । जनतामें उसकी भरसक निन्दा होती है । दूसरी ओर जिसमें सहानुभूति पायी जाती है, जो अपने साथियोंके दुःखमें तड़प उठता है और अपनी योग्य-तानुसार सहायता करता है, लोग उसे धर्मात्मा और बुद्धिमान् समझते हैं । जगत्में उसकी कीर्ति तथा यशका विस्तार होता है । जितना अधिक वह पराई आगमें झुलसना सीखता जाता है, उतना ही अधिक उसमें दिव्य-भाव प्रविष्ट होता जाता है । लोग ऐसे स्वार्थ रहित, सज्जनको देवता कहकर मानकी दृष्टिसे देखते हैं ।

९. धन्य है आर्य ऋषियोंकी उदारता और सूक्ष्मदृष्टि, जिन्होंने इस सामाजिक बलके उत्पादक, क्षुद्रताके विघातक, पिशाचताके शत्रु तथा दिव्यभावके मित्र तथा परिवर्धक विचारको प्रतिदिनके जीवनका एक प्रधान अंग बना दिया । प्रत्येक आर्यका यह निश्चित कर्तव्य है कि अपनी हीनता तथा क्षुद्रताका ज्ञाश करके पूर्णता उत्पन्न करनेके लिये पूर्त कर्मोंका आश्रय ले ।

इस विचारकी अवधि मानव-समाजसे भी परे जाकर प्राणि-मात्रके प्रति उपकार करने तक जा पहुँचती है । ऋषि दयानन्दके शब्दोंमें इसे ऐसे कह सकते हैं कि “प्रत्येकको अपनी ही उन्नतिमें सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।” विद्यालयों, अनाथालयों, विधवा-श्रमों, धर्मशालाओं, मन्दिरों, पुस्तकालयों, औषधालयों, आतुरालयों, कुओं, बावलियों, तालाबों, उद्यानों, सड़कों तथा अन्यान्य लोकोपकारके पदार्थोंका धर्मार्थ बनवाना पूर्ण कर्म है । इन कार्योंमें जो लोग अपनी सम्पत्तिको लगाते हैं, वे लौकिक यश तथा आत्मिक कल्याणके पात्र बनते हैं । उनका चित्त सदा प्रसन्न रहता है और उनके माथेपर कान्ति विराजती है । धन्य हैं ऐसे धर्मात्मा, सज्जन, जो बोलते कम हैं, पर जब कभी किसीका दुःख सुनते हैं, तो मानो, दिल चीरकर उसके सपुर्द करनेको तय्यार होजाते हैं ।

१०. मनुष्य विचारशील प्राणीका नाम है । दूसरोंकी सहायता करता हुआ और समय पड़नेपर उनसे सहायता लेता हुआ, वह कभी न कभी ऐसी विकट समस्यामें आ फँसता है कि जिसका सुलझाना न उसकी शक्तिमें होता है और न कोई दूसरा सहायक दिखाई पड़ता है । ऐसे संकटोंमें ‘इष्ट’ कर्मोंका सूक्ष्म तत्त्व हमारा सहारा होता है । ऋषि उपदेश करते हैं कि सारा ब्रह्माण्ड एक विस्तृत यज्ञका रूप धारण किये हुए है । सूर्य और अग्नि आदि दिव्यप्रकाश हैं । परोपकारी, सज्जनोंको लोकमें भी देवता कहते हैं । यही देवता शब्दका साधारण तात्पर्य है । सूर्यादि वास्तवमें देवता हैं । ये दिन रात

जगत्के कल्याण करनेमें लगे रहते हैं । कल्पके आरंभसे सूर्य और अग्नि तप रहे हैं । पृथिवी घूम रही है । पर्वतोंपर प्रतिवर्ष करोड़ों मन हिम जम जाती है और नदियों तथा नालोंद्वारा ग्रीष्मऋतुमें पिघलकर समुद्रमें जा पड़ती है । प्रतिक्षण पर्वतोंमें से गड़ २ करती हुई नदियां नीचेको जा रही हैं । क्या एकान्त, शान्त, निर्जन वन है, जहांसे होकर यह नदियां जा रही हैं । कोई इन्हें देख कर इनकी प्रशंसा करने वाला नहीं । कोई इस अनथक परिश्रममें इनका उत्साह बढ़ाने वाला नहीं । तनिक इनकी चान्दीकी तरह चमकती हुई, निर्मल जलकी शोर मचाती हुई धाराओंके किनारे खड़े होकर तो देखो । बड़े २ पत्थर पानीकी गतिको रोकते हैं, पर यह क्रोधके मारे टकरें मार २ कर और झागके रूपमें उबल २ कर पानीको आगे ही आगे धकेलती चली जाती हैं । इन्हें समुद्र तक पहुंचनेमें जो देर लग रही है, वह असह्य प्रतीत होती है ।

११. इनके किनारोंपर सहस्रों वृक्ष खड़े हैं । वनोंमें ऐसे २ दुर्गम स्थान हैं, जहां आज तक कोई मनुष्य नहीं जा सका । प्रतिवर्ष लाखों वृक्ष गिरते हैं और वहीं पड़े २ सड़ और गल जाते हैं । भला, इसका यहां क्या काम ? अहह ! वृष्टिके लानेमें यह जंगलही तो बड़े सहायक हैं । यह सारा जल आपके खेतोंको जीवन प्रदान करता हुआ, समुद्रमें जा पड़ता है । और, वाह, खूब, समुद्र भी भरनेमें नहीं आता । भरेभी कैसे, प्रतिक्षण वायुका एक २ परमाणु और सूर्य भगवान्की एक २ किरण पीते २ थकते भी तो नहीं । यह है इन प्राकृतिक देवताओंका खेल और, यह है उस महादेवकी अद्भुत रचना ।

उसका हाथ दिखाई नहीं पड़ता, पर लग सब जगह वही रहा है। पांव उसके नहीं, पर प्रेरणा सर्वत्र उसीकी है। वही अग्नि और सूर्यको प्रकाश देता है। वही वायु और जलको गति देता है। वही उन नदियों, वृक्षों और पर्वतोंको उत्साहित करता है और वही दिन रात उनसे जगत्का उपकार करता है।

१२. यज्ञ कहते हैं उस कर्मको, जिसमें देवताओंकी पूजा पायी जाती हो, मिलकर कामहो और निस्स्वार्थ भाव हो। अब पाठक ध्यानपूर्वक विचारें कि इन भौतिक देवताओंने कितना बड़ा यज्ञ रचा रखा है। क्या एक व्यक्तिको उसके योग्य स्थानपर सुशोभित करनाही उसकी सच्ची पूजा नहीं? पुष्पकी यह पूजा है, जो यह सिर और माथेकी शोभा बनता है। यह इसकी अवज्ञा है, जो इसे पांव तले लताड़ा जाता है। ठीक ऐसेही, सूर्यसे यथाविधि जड़, चेतन जगत्का जीवन प्राप्त करते रहनाही उसकी पूजा है। सारे संसारका विशाल, उद्यानके रूपमें दृष्टिगोचर होना, जलकी पूजा है। सारी हरियावल, कोमलता, मधुरता और रंग बरंगकी विचित्रता जलके ही कवित्त गा रही हैं। ऐसेही दूसरे देवताओंकी भी ब्राह्माण्डयज्ञमें नित्य पूजा होरही है। यह सारे मिलकर, केवल परोपकारार्थ, अपने-नियम पर चल रहे हैं। इस महायज्ञका रचाने वाला, वह महादेव, विष्णु है जो परमाणु २ में व्यापक होकर सारा प्रबन्ध कर रहा है। और, इसमें उसका भी क्या स्वार्थ? बस, इतनाही कि हम भूले भटके प्राणियोंको फिर अपने वास्तव घरका मार्ग मिले। वह पूर्वोक्त नौक़ा भी उसीने भेज रखी है। वह छोड़े वाला पथप्रदर्शकभी उसीका चमत्कार है। ठीक है, ठीक है,

विष्णु स्वयं यज्ञरूप है, उसका जगत् यज्ञरूप है और उसको पाता भी वही है जो ऐसेही यज्ञरूप बन जाता है ।

१३. इष्ट और यज्ञ एकही ध्वनिके दो रूप हैं । इष्टका वही आशय है जो यज्ञका है । अतः इष्ट कर्म वे कर्म हैं, जो साधकको यज्ञरूप बनानेमें सहायक हों । इस क्षेत्रमें मानसिक विचारोंका बड़ा उपयोग है । सर्वसाधारण विना किसीकी सहायताके निर्विघ्न रूपसे इसमें विचर नहीं सकते । इसलिये ऋषियोंने इष्ट कर्मकी पद्धतियां बना दी हैं । इनके अनुसार चलता हुआ, यजमान अच्छे पुरोहितोंकी सहायतासे, यज्ञरूप बन सकनेकी आशा कर सकता है । प्रत्येक अवस्था तथा कोटिके मनुष्योंकेलिये उनकी योग्यता-अनुसार यज्ञोंकी विधि पायी जाती है । साधारण शब्दोंमें अग्निहोत्रसे लेकर अश्वमेध पर्यन्त सारे यज्ञ इष्टकर्म कहलाते हैं । इनका वर्णन वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदोंमें मिलता है । परन्तु विशेष प्रक्रियाका विधान सूत्र ग्रन्थोंमें है । श्रुतिमूलक कर्मोंको श्रौत और स्मृति-मूलक कर्मोंको स्मार्त्त कहते हैं ।

१४. वास्तवमें इष्टका संबंध साक्षात् आत्मासे है । आत्मा दिखाई नहीं देता । परमात्मा दिखाई नहीं देता । सूर्य और अग्निके भौतिक प्रकाशके पीछे सर्वज्ञ, प्रभुका छिपा हुआ हाथ दिखाई नहीं देता । इसलिये इष्ट कर्मोंका करना और आध्यात्मिक लाभकी आशा करनाही आस्तिकताका स्वरूप है । जिसका प्रभुकी विभूतियों और आत्मिक प्रेरणाओंपर विश्वास न हो, वह सबे दिलसे इन कर्मोंमें प्रवृत्त नहीं हो सकता । अरुचि-पूर्वक किया हुआ कर्म ग्लानिही पैदा करता है । हां, इन कर्मोंका

भौतिक रूप लोगोंके सामने रहता है । और, यह संभव है कि आज कलके लोग अधिकतर उसीसे प्रेरित होते हों, परन्तु भौतिक प्रेरणाका फलभी भौतिकही होगा । आत्मिक कल्याणके भावसे किया हुआ यज्ञ एक प्रकारके “अदृष्ट” फलको पैदा करता है । जब यजमानके साथ उसका संबंध होजाता है, तो वह स्वर्गका अधिकारी बन जाता है । अर्थात् यज्ञका परिपक्व फल आत्मिक विकासके पूर्ण होनेपर ही अनुभव होता है, पहिले नहीं । उसी अवस्थाको स्वर्ग या मोक्षकी अवस्था कह सकते हैं ।

१५. उपर्युक्त प्रकारसे इष्टकर्मोंका संबंध मुख्यरूपसे यजमानके व्यक्तिगत जीवनके साथ है । पूर्त्तिका परिणाम मुख्यरूपसे सामाजिक कल्याण होता है । समाजका आधार व्यक्ति है उन्नत और विकसित व्यक्तियोंका समाजही सर्वांगपूर्ण होता है । समुदायके बलका मूल व्यक्तिका बल है । इसलिये पूर्त्तकी अपेक्षा शास्त्रीय दृष्टिसे इष्टकी प्रधानता है । दोनोंका योग ‘इष्टापूर्त्त’ कर्म कहलाता है । इस वर्णनमें लोक-रुचिका विचार करते हुए पहिले पूर्त्तका वर्णन किया गया है । आजकल जनताकी इन कर्मोंमें ही प्रवृत्ति है । प्राचीन आर्य इष्ट और पूर्त्त दोनोंको अपनी स्थिर सम्पत्ति समझता था । यदि कोई प्यारा आशीर्वाद था, तो वह इष्टापूर्त्तकी वृद्धिथी और यदि कोई शाप भयानक था, तो वह इष्टापूर्त्तकी कमाईका नाश था ।

१६. शास्त्रोंमें दो मार्गोंका वर्णन पाया जाता है । एकको देवयान और दूसरेको पितृयान कहते हैं । एकमें ज्ञान प्रधान है और दूसरेमें कर्म । पूर्व प्रकरणमें शास्त्रीय संगति द्वारा यह

स्पष्ट किया जा चुका है कि कर्मण्यताको छोड़कर ज्ञान धारण कर सकना बालुपर मकान बनानेके समान है । त्यागसे युक्त होकर जो कर्म करना सीख जाता है, उसके अन्दर ज्ञानद्वारा विकास पराकाष्ठाको पहुँचकर उसे सिद्ध तथा मुक्त बनानेमें बड़ा सहायक होता है । जिनको यह अवस्था प्राप्त होजाती है, उनकी गतिका नाम देवयान है । जो कर्मनिष्ठ केवल कर्मही करते हैं, आत्मविवेकको प्राप्त नहीं होते, उनकी गतिका नाम पितृयाण है । देवयान मोक्षका साधन है, पितृयाण उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त तो अवश्य कराता है, पर जन्म मरणके चक्रसे पूर्णतया नहीं छुड़ा सकता । जैसे पूर्व कहा जा चुका है, कर्मका बल ज्ञानसे ही बढ़ता है । इसलिये शास्त्रोंमें जहाँ २ पितृयाण अथवा इष्टापूर्त कर्मकी हीनताका संकेत किया है, तो वहाँ इन प्रकरणोंमें किये गये वर्णनके अनुसारही पाठकोंको संगति लगानी चाहिये । अर्थात्, ज्ञानसे पृथक् होकर कर्म अन्धे घोड़ेके समान है । उसे घसीट करही लेजाना पड़ता है, उसे स्वयं मार्ग दिखाई नहीं पड़ता ।

१७. इसी संगतिके अनुसारही निम्नलिखित ऊपर २ से विरोधी प्रतीति होनेवाले शास्त्रीय प्रमाण भली प्रकार समझमें आ सकते हैं:—

“तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्तानि
त्रेतायां बहुधा संततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा
एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके” ॥ मुण्डक० १।२।१॥

अर्थ:—(तत्) तो (एतत्) यह (सत्यं) सत्य [है] ।

(यानि) जिन (कर्माणि) कर्मोंको (कवयः) विद्वानोंने (मन्त्रेषु) मन्त्रोंमें (अपश्यन्) देखा, (तानि) वे (त्रेतायां) वेदविद्यामें (बहुधा) अनेक प्रकारसे (संततानि) विस्तृतरूपसे वर्णित हैं । (सत्यकामाः) सत्यकी इच्छा करने वाले ! (तानि) उनपर (नियतं) निश्चितरूपसे (आचरथ) आचरण करो । (एषः) यह (वः) तुम्हारे लिये (लोके) लोकमें (सुकृतस्य) कल्याणका (पन्थाः) मार्ग है ।

भावः—इस मन्त्रमें वेदोक्त कर्मोंको सत्य तथा पुण्य और कल्याणका मार्ग बताकर आचरण करने योग्य बताया है । इससे पूर्व ज्ञान की मित्रताका वर्णन करते हुए कहाजा चुका है कि ज्ञान रहित मनुष्य सुकृतके मार्गको नहीं जान सकता (देखो, सप्तम प्रकरण, मन्त्र १) । दूसरे शब्दोंमें यह स्पष्ट होगया कि ज्ञान और कर्म मिलकर एक ही सुकृतके मार्गपर चलानेमें सहायक बनते हैं । कर्म सुकृतका मार्ग है, जिसे ज्ञानने दिखाना है । उसे ज्ञानद्वारा देखकर श्रुतिके उपदेशानुसार उसपर आचरण करना आवश्यक है ।

“एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्यरश्मिभिर्यजमानं वहन्ति । प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः” ॥ मुण्ड० १ । २ । ६ ॥

अर्थः—(तम्) उस [विधिपूर्वक चलने वाले] (यजमानं) यजमानको (सुवर्चसः) प्रकाशमान् (आहुतयः) आहुतियां (एहि, एहि, इति) आओ २ ऐसा कहती हुई (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यकी किरणों द्वारा (वहन्ति) उठाकर

ले चलती हैं । [वह आहुतियां, मानो] (प्रियां) प्यारी (वाचं) वाणीको (अभि-वदन्त्यः) सम्मुख बोलती हुई (अर्चयन्त्यः) सत्कार करती हुई [यह कहती हैं कि आओ] (एषः) यही (वः) तुम्हारे लिये (पुण्यः) पुण्य (सुकृतः) अच्छी प्रकारसे प्राप्त (ब्रह्मलोकः) मोक्षधाम है ।

भावः—विधि पूर्वक, ज्ञानसे युक्त होकर कर्म करने वाला मुक्त हो जाता है । इतनी महिमाके पश्चात् अगले मन्त्रोंमें यज्ञोंको अटढ़ कहकर हीन दर्शाया है, परन्तु यह हीनता ज्ञानरहित कर्मकी है । यह अगले मन्त्रसे स्पष्ट हो जावेगा ।

“अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥” मुण्डक० १।२।९ ॥

अर्थः—(बालाः) बालबुद्धि लोग (अविद्यायां) अविद्याके अन्दर (बहुधा) अनेक प्रकारसे (वर्त्तमानाः) रहते हुए (वयं) हम (कृतार्थाः) कृतार्थ [होगये हैं] (इति) ऐसा (अभिमन्यन्ति) अभिमान करने लगते हैं, (यत्) क्योंकि (कर्मिणः) कर्म-परायण लोग (रागात्) आसक्तिके कारण (न) नहीं (प्र-वेदयन्ति) ठीक प्रकारसे विवेक धारण करते, (तेन) अतः (आतुराः) व्याकुल होकर (क्षीण-लोकाः) उन्नत दशाको छोड़कर (च्यवन्ते) पतित होजाते हैं ।

भावः—कितना स्पष्ट ज्ञान और कर्मका परस्पर संबंध वर्णन कर दिया है । मुक्त होनेके इच्छुकको अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये ।

१८. यह लोगोंका मिथ्या विचार है कि वेदान्त अत्यन्त कर्माभावका उपदेश करता है । शास्त्रीय उपदेश पूर्व प्रकरणमें सुनाया जा चुका है । उपर्युक्त मन्त्रोंके पाठसे भी यह भली प्रकार विदित होगया होगा कि शास्त्रके आशयानुसार कर्ममात्र पर्याप्त नहीं । जैसे पूर्व वर्णन किया था, कर्म बल है, ज्ञान ज्योति है । यही भाव एक और मन्त्र द्वारा प्रकट किया जाता है ।

“इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वाविशन्ति” ॥ मुण्डक० १।२।१० ॥

अर्थ:—(प्रमूढाः) मूर्खजन (इष्टापूर्त्तं) इष्टापूर्त्तको (वरिष्ठं) सर्वोत्तम (मन्यमानाः) समझते हुए (अन्यत्) अन्य (श्रेयः) कल्याणका मार्ग (न) नहीं (वेदयन्ते) जानते । (ते) वे (सुकृते) पुण्यके (अनु) अनुसार (नाकस्य) कल्याणके (पृष्ठे) ऊपर २ (भूत्वा) रहकर (इमं) इस (लोकं) लोकको (वा) और (हीनतरं) इससे भी निकृष्टको (आविशन्ति) प्राप्त होते हैं ।

भाव:—जो कर्मसे आगे बढ़कर और कुछ नहीं देख सकते, उन्हें सुख तो अवश्य मिलता है । परन्तु वह चिरस्थायी नहीं होता । नींव पक्की न होनेके कारण वे अपनी अवस्थाले अधिक ऊपर नहीं उठ सकते । हां, और पतित हो सकते हैं ।

१९. यदि इस प्रकारसे शास्त्रीय तत्त्वको ठीक न समझा जावे, तो एक और विरोध पड़ता है । ज्ञान सिद्ध लोगोंकी गतिका द्वार सूर्य माना गया है (देखो, मुण्डक० १।२।११ ॥)

और पूर्व दिखे गये मन्त्र (मुण्डक० १।२।६॥) में यह आ चुका है कि विधिपूर्वक इष्टकर्म करने वालेको सूर्यकी किरणों द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है । यदि कर्म नितान्त हीन हैं, तो इतनी महिमा क्यों? और सूर्य द्वार और ब्रह्मलोककी प्राप्ति कैसे? इसलिये श्रुतिका आशय ठीक समझना चाहिये । हमें अपने मन माने विचारोंके कारण जहां विरोध नहीं, वहां भी वह दिखाई देता है । अब दो श्लोकोंद्वारा इष्टापूर्त्तका वर्णन करके इस प्रकरणको समाप्त किया जाता है ।

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।

आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।

अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अर्थः—(अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र, (तपः) तप, (सत्यं) सत्य, (वेदानां) वेदों की (अनुपालनं) रक्षा (च) और (आतिथ्यं) अतिथि सत्कार (च) और (वैश्वदेवः) प्राणियोंका पालन करना (इति) यह [सारा] (इष्टं) इष्टकर्म (अभिधीयते) कहलाता है ॥ (वापीकूपतडागादि) बावली, कुआं, तालाब आदि (देवतायतनानि) मन्दिर (च) और (अन्नप्रदानं) अन्न-दान (आरामः) उद्यान लगाना (इति) इत्यादि (पूर्त्तं) पूर्त्त (अभिधीयते) कहलाता है ॥

नवम प्रकरण ।

पञ्च महायज्ञ ।

आर्यधर्मकी विशालताका यह एक लक्षण है कि उसमें मनुष्योंको पढ़नेवाले बालकोंके समान समझकर उनके साथ यथायोग्य व्यवहार किया गया है । दशमी श्रेणीका विद्यार्थी जिस बातको साधारण प्रयत्नसे समझ जाता है, वह आठवीं वालेकेलिये अति कठिन होती है । तीसरी और चौथीवालोंके लिये वह पत्थरके समान होती है और प्रथमा वालोंकी तो वहां गिनती ही नहीं, परन्तु पत्थर पड़े उस अध्यापककी बुद्धिपर, जो केवल उस एक बातकी कसौटीपर सारे लड़कोंकी परीक्षा लेनेका साहस ही नहीं करता, वरन जो ठीक २ उत्तर नहीं देसकते, उन्हें बाहिर निकालनेकी मूर्खताभी करता है ।

२. लोग उस अध्यापककी निन्दा करते हैं और उसे विद्यालयसे निकलवानेका यत्न करते हैं, वे उस शिक्षकको पसन्द करते हैं, जो बड़े, छोटे सब लड़कोंको उनकी कक्षाके अनुसार पाठ पढ़ाता और परीक्षामें बिठाता है । हां, कोई २ बात ऐसी भी होसकती है, जिसे सबको जानना चाहिये । जैसे इन्स्पेक्टर साहिबके आनेपर प्रत्येक कक्षा पंक्ति बांधे खड़ी हो । जो २ विद्यार्थी, चाहे वे किसी कक्षाके हों, चपलता करेंगे और पंक्तिको बिगाड़ेंगे, अध्यापक उन सबको डांटिगा और कभी २ चुपकेसे चपेट भी लगा देगा ।

३. प्राचीन आर्य ऋषि इस अच्छे अध्यापकके समानथे । वर्णाश्रमधर्मका उपदेश करके उन्होंने प्रकाशित करदिया है कि वे मनुष्योंके आपसमें सूक्ष्म भेदोंको समझते हैं और प्रत्येक कोटिके साधकके साथ प्रेम करनेको तय्यार हैं । हां, प्रत्येक मानव-कक्षाके अपने २ अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित हैं । जहां राजाको अभ्युदय यज्ञ करनेका अधिकार है, वहां प्रजापालनका कर्त्तव्य-भार भी इसके सिरपर है । एक जुलाहा दिन भर परिश्रम कर पांच सात गज कपड़ा बुनकर आरामसे रातको अपने परिवारमें बैठकर भोजन करता और निश्चिन्त होकर लेट जाता है, पर राजा और उसके मन्त्री चिन्तातुर हो रहे हैं कि शत्रुने आक्रमणकी तय्यारी करदी है और दूतने अभी आकर सारा समाचार सुनाया है ।

४. परन्तु धार्मिक दृष्टिसे जुलाहा, राजा और उसके ब्राह्मण मन्त्री, सभी आर्यधर्मके आवश्यक अंग हैं । जो धर्मोपदेशक इस तत्त्वको न समझकर, थोड़ी योग्यतावाले लोगोंको दुत्कारेगा, वह निश्चयरूपसे, अपने ही पांवपर आप कुल्हाड़ी चलावेगा । भिन्न २ प्रकारकी प्रजा मिलकर ही एक राष्ट्रकी शोभा है । वह किसान मूर्ख गिना जाता है जो बकड़ोंको इसलिये नहीं पालता कि वे बड़े बैलोंकी तरह हल चलानेमें असमर्थ हैं । आज आर्यधर्मकी नौका भंवरमें क्यों चकरा रही है ? विचारशील लोग अनुभव कर रहे हैं कि हमने अपने पूर्वजोंकी गहरी नीतिको भुलाकर एकही धर्मके अनुयायियोंके मध्यमें उच्चता और नीचताके पहाड़ खड़े करदिये हैं । भला; कहीं और भी यह दुर्घट घटना देखी है कि एकही धर्मके माननेवाले पर-

स्पर्श स्पर्श या कायामात्रसे अपवित्र होजाते हों । आये दिनकी मन्द अवस्थाका मूलकारण यही हमारी अपनी बेसमझी है ।

५. सनातन आर्यधर्मके अनुसार विशेष लोग विशेष कर्म अपने २ ढंग पर करें, परन्तु कुछ ऐसे भी नित्यकर्म बतलाये गये हैं जिन्हें सभी, गृहस्थ प्रतिदिन किया करें, धनी हो या निर्धन, बड़ा हो या छोटा, प्रत्येककेलिये आवश्यक होनेसे उन नित्य यज्ञोंका क्षेत्र बड़ा विस्तृत है । वे मनुष्यमात्रके समान कर्म हैं । इसलिये उन्हें महायज्ञ कहते हैं । अपनी २ अवस्थानुसार, वे दो पैसोंमें भी और दो रुपयेमें भी किये जा सकते हैं । खर्चका प्रश्न मुख्य नहीं, प्रतिदिन कर्त्तव्य परायण होकर, श्रद्धापूर्वक करना ही मुख्यगुण है । जो ठीक २ पालन करता है वह आर्य है और प्राचीन ग्रन्थानुसार उसे कोई जन समाजसे बहिष्कृत न कर सकता था । परन्तु आज निराली ही अन्ध-व्यवस्था चल रही है । इस धर्मका स्वयं पालन न करनेवाले, शेष सारे लोगोंको बाहिर धकेलनेकी शपथ खाये बैठे हैं । प्रभु इस जातिको इन बुद्धिके धनियोंसे छुट्टी दिलाये ! यह महायज्ञ पांच हैं १-ब्रह्मयज्ञ २-देवयज्ञ ३-पितृयज्ञ ४-अतिथियज्ञ और ५-भूतयज्ञ ।

६. ब्रह्मयज्ञ—प्रतिदिन प्रातः तथा सायंकाल प्रभुके चरणों में उपस्थित होकर, अपने विनय तथा प्रेमका प्रकाश करना और परमपिताके गुणोंकी आराधना करना ब्रह्मयज्ञका एक भाग है । स्वाध्याय अर्थात् मोक्षशास्त्रोंका अध्ययन करना दूसरा भाग है । स्वाध्यायशील मनुष्य सदा ऋषियोंका सत्संग करता है । शास्त्रोंको पढ़ने तथा उनकी बातोंपर आचरण करनेसे, उनकी सच्चाईका अनुभव होता है और धर्ममें श्रद्धा बढ़ती है ।

“यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥”

(मनु० ४।२० ॥)

अर्थः—(यथा यथा) ज्यों २ (पुरुषः) पुरुष (शास्त्रं) शास्त्रको (सम-अधि-गच्छति) समझता जाता है, (तथा तथा) त्यों २ (वि-जानाति) विशेष जानता जाता है (च) और (अस्य) उसको (विज्ञानं) विज्ञान (रोचते) रुचिकर होता है ।

७. स्वाध्याय करनेवाला आत्माके स्वरूपसे भली भान्ति परिचित होकर ठीक २ चिन्तन करना सीख जाता है । अन्यथा, ज्ञानरहित भक्तिमार्ग समय पाकर अनेक अन्ध-विश्वासों तथा मिथ्या रीतियोंका मूल स्रोत बन जाता है । स्वाध्याय करनेसे योगके वास्तव मार्गपर चलना आजाता है और सन्ध्योपासना-योगद्वारा आत्मिक मर्मोंके मननका अभ्यास होजाता है । जब स्वाध्याय तथा भक्ति-योग दोनोंमें सम्पन्न हो जाता है, तो प्रभुके प्रकाशका पात्र बनता है ।

“स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।

स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥”

योग, व्यासभाष्य, १।२८ ॥

अर्थः—(स्वाध्यायात्) स्वाध्यायसे (योगं) योगको (आसीत) धारण करे (योगात्) योगसे (स्वाध्यायं) स्वाध्यायका (आमनेत्) मनन करे (स्वाध्याय-योग-सम्पत्त्या) दोनोंको पालेनेपर (परमात्मा) (प्रकाशते) प्रकाश करते हैं ।

८. जीवित महात्माओंका सत्संग बड़ा लाभदायक होता है । परन्तु, प्रथम तो ऐसे सज्जनोंका सर्वत्र मिलनाही

कठिन है। और, फिर चाहे कोई कितनाही उन्नत क्यों न हो, उसमें दोषोंकी भी संभावना है। कई बार जो दूरसे श्रद्धा होती है, वह समीप आनेपर भागने लगती है। कोई २ साधक ही मधुमक्खलीकी नाई आक और धतूरेमेंसे भी मधु निकाल सकता है। साधारण जनोमें यह सामर्थ्य नहीं होता और कुछ दूसरे पामर लोग उन्हें बहका भी देते हैं। जहां प्रत्येक साधकको गुणग्राही होना चाहिये, वहां विशेषरूप से प्राचीन ऋषियोंके चरणोंमें बैठकर, अपना चित्र देखनेका अभ्यास करना चाहिये। धन्य हैं, वे महर्षि, जो सहस्रों वर्षोंसे मर्त्य भौतिक देहको छोड़ चुके हैं, पर अपने विचारोंके देहद्वारा अबभी हमारे पास विराजमान हैं। उनकी यशोध्वजा भारतके माथेका भूषण बन रही है। हमारे लिये यह बड़ा लाभदायक होगा कि हम अपने घरोंमें उनके ग्रन्थोंका संग्रह करें और प्रतिदिन थोड़ा बहुत समय उनकी सेवामें व्यतीत करें।

६. देवयज्ञः—इस प्रकार ब्रह्म अर्थात् ईश्वर और वेदके सत्संगसे पवित्र होकर मनुष्यको चाहिये कि देवताओंका सत्संग करे। वह घर आर्य घर नहीं, जहां नित्य अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य तथा अन्य यज्ञ नहीं, होते रहने। पहिले कहा जाचुका है कि सकलदेवता यज्ञ करते हैं। मनुष्यको उनसे शिक्षा लेनी चाहिये। देवका अर्थ परमात्मा है। प्राकृतिक ज्योतियों, शक्तियों और विभूतियोंको भी देव कहते हैं। समाजमें चमकने वाले विद्वान् जनोकोभी देव कहते हैं। संक्षेप यह है कि आर्य लोग 'देव'का शब्द वहां प्रयुक्त करते हैं, जहां प्रकाश, बल तथा परोपकारके भावोंका विकास पाया जावे। इसी कारणसे उपर्युक्त पदार्थोंको देव कहते हैं।

१०. साधकको उचित है कि ब्रह्मयज्ञमें विशेष रूपसे प्रभुके आन्तरिक प्रकाशको देखनेकेलिये उत्सुक होकर अन्तर्मुख होनेका अभ्यास करे । देवयज्ञमें उसकी बाह्य विभूतियों और चमत्कारोंका ध्यान करता हुआ, उसके विराट् स्वरूपका चिन्तन करे । प्रत्येक भौतिक देवतामें प्रभुके प्रकाशकी रेखाको देखनेका अभ्यास करे । प्रतिक्षण, उसके रचे हुए यज्ञका चिन्तन करता हुआ, अपने अन्दरसे स्वार्थ तथा तुच्छताके बीजों और अंकुरोंको बाहिर उखाड़ फेंकनेका प्रयत्न करता रहे । एक प्रकारसे देवयज्ञ सारे छोटे बड़े यज्ञोंका बोधक है, परन्तु प्रयोगवश, अब नित्य अग्निहोत्रके कृत्यको ही इस शब्दसे स्मरण करते हैं । इसका विस्तार अगले प्रकरणोंमें होगा ।

११. पितृयज्ञः—प्रतिदिन अपने माता पिता तथा अन्य आश्रितसंबंधियोंकी सेवा तथा तृप्तिका ठीक २ प्रबन्ध करनाही इस यज्ञका तात्पर्य है । माता, पिता, अपने सन्तानके लिये जो २ कष्ट उठाते और अपना आराम छोड़कर, अपने बच्चोंके लिये जो कुच्छ करते हैं, उसका चुका सकना असंभव है । यह प्रभुकी महिमाही समझो कि प्रत्येक माता, पिताके अन्दर, विना प्रत्युपकारकी आशाके, सन्ततिके पालन, पोषणका भाव स्वाभाविक रूपसे ही विद्यमान रहता है । यह वृत्ति पशुओंमें भी पायी जाती है । परन्तु मनुष्यका बच्चा अधिक सावधानीसे तथा चिरकाल तक माता, पिताके ध्यानकी अपेक्षा करता है । जिन बालकोंके सिरोंसे छोटी आयुमें ही उनका, विशेषकर माताका, हाथ उठ जाता है, वे जब तक जीते हैं, उस झुटिको अनुभव किया करते हैं ।



१२. आर्य धर्ममें कुलोंकी मर्यादाकी रक्षा करना धर्मका अंग माना गया है। यह तभी हो सकता है, जब वृद्ध माता, पिताके प्रति सन्तान अपने कर्त्तव्यका पालन करे। जैसे वे स्वभावसे अपने बच्चोंके पालन तथा शिक्षणका प्रबन्ध करते हैं, ऐसेही सन्तानको भी चाहिये कि बड़ी होकर घरको संभालें और वृद्धोंकी पूजा तथा सेवा करते रहें।

१३. अतिथियज्ञः—यह चौथा महायज्ञ वहीं हो सकता है, जहां पितृयज्ञकी प्रतिष्ठा हो। जब कोई विद्वान्, सदाचारी, संन्यासी, महात्मा, अनुभवी सज्जन हमारे हां आ पहुंचे, तो हमारा द्वार उसके स्वागत करनेकेलिये सदा खुला रहना चाहिये। वेदादि शास्त्रोंमें ऐसे ही अतिथियोंका वर्णन किया गया है। अपने इष्ट, मित्र तथा संबंधिबर्गकी सेवा करना ही अतिथियज्ञ नहीं हो सकता। वे तो अपने २ अधिकारोंसे ही सेवा करा लेंगे। उनका सत्कार करना, कुलमर्यादाकी रक्षामें निमित्त होनेके कारण पितृयज्ञका ही एक अंग समझना चाहिये। अतिथिसे तात्पर्य तो ऐसे महात्माओंसे हैं, जिनके आने जानेके विषयमें हमें विशेषज्ञान नहीं होता। वे सामाजिक मर्यादाकी रक्षार्थ प्रचार करते हुए सदा देशाटन करते रहते हैं। कुल-मर्यादाके पीछे ही देश अथवा समाजकी मर्यादाका प्रसंग आ सकता है। इस लिये यह बात स्वतः सिद्ध है कि जो लोग पितृयज्ञकी महिमा भूल चुके हों, वे आर्यधर्मकी नीतिके अनुसार अतिथियज्ञकी महिमाका भी अनुमान नहीं कर सकते।

१४. आर्यधर्मकी यह व्यवस्था थी कि जो लोग उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए, सब बन्धनोंसे मुक्त होजावें, जिन्हें न पुत्र,

पौत्रकी लालसा, न धन सम्पत्तिकी तृष्णा और न यश और कीर्त्तिकी कामना अब सताती हो, अर्थात् जो व्यक्तिगत उन्नतिकी अवधिसे ऊपर उठकर प्रभुके आदेशकी प्रतीक्षा कर रहे हों, वे संन्यासी बन, देश, देशान्तर तथा द्वीप, द्वीपान्तरमें घूम २ कर धर्मपथ पर लोगोंको चलाते रहें । इसीलिये इन्हें परिव्राजक कहते हैं । अब भी साधु, महात्मा सारा वर्ष तीर्थाटन और देशाटन करते रहते हैं । जो साधु होकर एक स्थान पर डेराडाल कर बैठ जाता है, सम्प्रदाय में उसकी निन्दा होती है । यह और बात है कि अधिकांश साधु घूमनेको ही साध्य समझ रहे हैं और धर्मोपदेशका कार्य शिथिल पड़ चुका है ।

१५. जब यह मर्यादा स्थापित थी, तो वैतनिक प्रचारक रखनेकी प्रथा अनावश्यक थी । वस्तुतः धर्म प्रचारकी यह रीति अब आकर दूसरोंसे नकल की गयी है । अभी तक आर्य जातिके स्वभावने इसे पूर्णतया नहीं अपनाया । परन्तु प्राचीन व्यवस्थाभी नहीं रही । परिणाम यह है कि धर्मकी मर्यादा स्थिर नहीं रही । जातीय और धार्मिक संगठनको दृढ़ करनेके लिये पुरानी परिपाटीको पुनर्जीवित करना अत्यावश्यक है । सच्चे साधु, महात्माओंको इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये । जो ब्राह्मण गृहस्थ होता हुआ भी इस पवित्र कार्यमें अग्रसर होसकता है, वह धन्य है । परन्तु प्रचारकोंका उत्साह तब अधिक बढ़ेगा, जब गृहस्थ लोग अपना आतिथ्य और सेवा-भाव जागृत करेंगे ।

१६. भूतयज्ञः—पांचवें महायज्ञ द्वारा प्राणिमात्रसे सहानुभूति प्रकट करनेका उपदेश है । ब्रह्मयज्ञमें महान् प्रभुका ध्यान

कर, साधक महान् बनना चाहता है, क्योंकि जिस प्रकारके संकल्पमय आदर्श हमारे सम्मुख होते हैं, हम वैसेही ढलते जाते हैं। देवयज्ञमें वह भौतिक देवताओंमें प्रभुकी ज्योतिको अनुभव करता हुआ, उनके समान उपकारी बननेका यत्न करता है। पितृयज्ञ पारिवारिक एकताका बढ़ाने वाला है। अतिथियज्ञ जातीय प्रेम तथा संगठनका अभ्यास-क्षेत्र है। और अन्तमें सब संकोचका त्याग सिखानेके लिये भृतयज्ञ आता है। जैसे ब्रह्म सबके हृदयमें निवास करता है, ऐसेही साधकभी प्राणिमात्रके हृदयमें प्रविष्ट होकर उस ब्रह्मका अनुभव प्राप्त करे। किसीके हृदयमें निवास करना हो, तो उसके साथ सच्चा प्रेम और उसकी सदा सहायता करो। जब घरमें भोजन तय्यार हो, तो अपने आपही न खाने बैठ जाया करो। कोई पापरोगी, कुष्टी, पंगु, कंगला द्वारपर खड़ा हो या भूखा पासही किसी अन्नदाताकी प्रतीक्षा करता हो, तो जाओ, प्रथम उसका पेट भरो इसी प्रकार कुत्ता, बिल्ली, चिड़िया, कौआ आदि प्राणियोंका पालन करो।

१७. आर्यजातिमें इस पवित्र धर्मका अंकुर अभी तक विद्यमान है। लोग कीड़े, मकोड़ोंकी बिलों पर आटा बिखेरते हैं, मक़लियोंको अन्न डालते हैं और मण्डियोंमें पत्तियोंके लिये दाना डाला जाता है। पशुओंके लिये लवणके बड़े-ठेले अबभी मार्गोंपर रखे रहते हैं, परन्तु यह धर्म शनैः कम होरहे हैं। समयके वायुमें ही कुच्छ अन्तर है। यह रिवाज आर्य धर्मके विशाल देहके सुन्दर अंग हैं। आर्य धर्मको जाग्रत दशामें लानेके लिये इन्हें पुनर्जीवित करना होगा। इन सब धर्मोंका पालन

जातीय समृद्धि और ऐश्वर्यका एक चिन्हथा और फिरभी वैसाही बनेगा । अतः मनु महाराज और व्यासजीके उपदेशके साथ इस प्रकरणका उपसंहार किया जाता है ।

“ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।

नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥

(मनु० ४ । २१ ॥)

अर्थः—(यथाशक्ति) जहां तक होसके (ऋषियज्ञं) ब्रह्मयज्ञ (देवयज्ञं) देवयज्ञ (भूतयज्ञं) भूतयज्ञ (नृयज्ञं) अतिथियज्ञ (च) और (पितृयज्ञं) पितृयज्ञको (न) (हापयेत्) छोड़े ।

“अहन्यहनि ये त्वेतानकृत्वा भुञ्जते स्वयम् ।

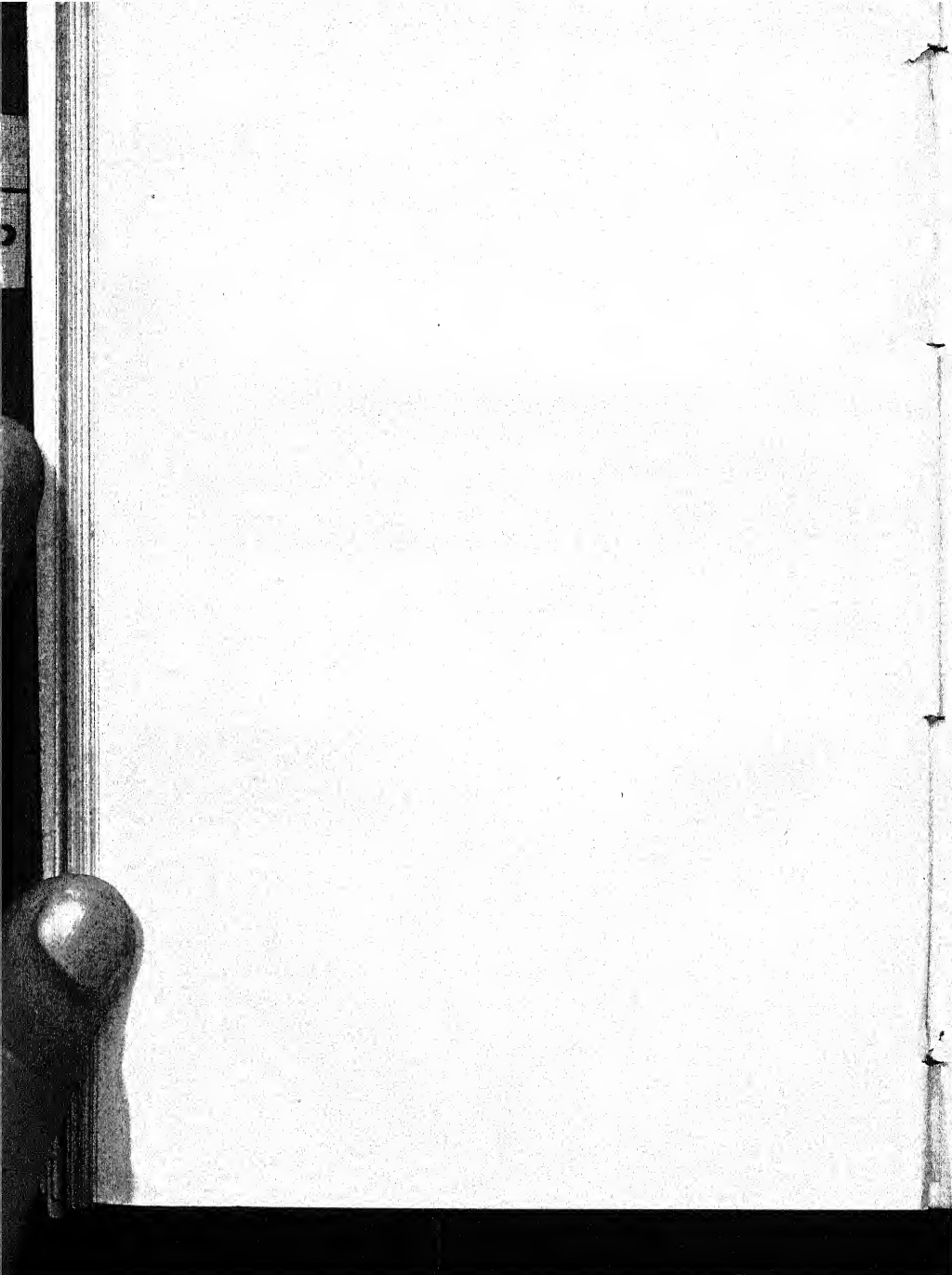
केवलं मलमश्नन्ति ते नरा न च संशयः ॥

महाभारत अश्व० १०४ । १६ ।

अर्थः—(अहनि-अहनि) प्रतिदिन (ये) जो (एतान्) इन [महायज्ञों] को (अकृत्वा) किये बिना (स्वयं) (भुञ्जते) खाते पीते हैं, (ते) वे (नराः) नर (केवलं) केवल (मलं) मल (अश्नन्ति) खाते हैं । (च) वस्तुतः [इसमें] (संशयः) संशय (न) नहीं ।



अथ माहात्म्य-प्रकाशोनाम
द्वितीयोऽध्यायः ।



प्रथम प्रकरणा

अग्निहोत्रकी शास्त्रीय महिमा ।



१. स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादैवे चैवेह कर्मणि ।

दैवकर्मणि युक्तो हि विभर्त्तीदं चराचरम् ॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

(मनु० ३।७५, ६ ॥)

अर्थः—[मनुष्यको चाहियेकि] (स्वाध्याये) स्वाध्यायमें (नित्य-युक्तः) नित्य युक्त (स्यात्) रहे (च) और (इह) यहां (दैवे कर्मणि) देवयज्ञमें (एव) भी [लगा रहे] । (दैवे कर्मणि) देवयज्ञमें (युक्तः) लगा हुआ (हि) क्योंकि (इदं) इस (चराचरं) जड़ चेतन जगत्को (विभर्त्ति) धारण करता है ॥ (अग्नौ) अग्निमें (प्र-अस्ता) डाली हुई (आहुतिः) आहुति (सम्यक्) अच्छी तरहसे (आदित्यं) आदित्यको (उपतिष्ठते) प्राप्त होती है । (आदित्यात्) आदित्यसे (वृष्टिः) वृष्टि (जायते) होती है । (वृष्टेः) वृष्टि से (अन्नं) अन्न [होता है] । (ततः) फिर (प्रजाः) प्रजाएं [होती हैं] ।

भावः—यहां पर अग्निहोत्रको चराचर जगत्का धारण कराने वाला बताया है । यह दो प्रकारसे होता है, भौतिक विधिसे तथा आध्यात्मिक विधिसे । पहिली विधिका यहां संकेत किया गया है । प्रचण्ड अग्निमें डाले हुए पदार्थ ऊपर

उठते हैं । और वृष्टि लानेमें निमित्त बनते हैं । वृष्टि ठीक होते रहनेसे अन्नादिक अच्छे होते हैं और प्रजाएं उन्नतिको प्राप्त होती हैं । आगे आने वाले प्रकरणोंमें इन दोनों विधियोंका भिन्न २ दृष्टिकोणोंसे विचार किया जावेगा ।

२. “अग्निहोत्रं सायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः स्विष्टं सुहुतं यज्ञक्रतूनां परायणं स्वर्गस्य लोकस्य ज्योतिः ।”

तैत्तिरीयारण्यक० १० । ६३ । १ ॥

अर्थः—(सायं, प्रातः) (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र (गृहाणां) घरोंकी (निष्कृतिः) शुद्धि करने वाला है । (स्विष्टं, सुहुतं) श्रद्धापूर्वक सम्पूर्ण किया हुआ (यज्ञ-क्रतूनां) यज्ञों और क्रतुओंकी (परायणम्) पराकाष्ठा है । (स्वर्गस्य लोकस्य) स्वर्ग लोककी (ज्योतिः) ज्योति है ।

भावः—प्रत्येक घर में नाना प्रकारकी अशुद्धि तथा हिंसा आदि होती हैं । अग्निहोत्रका श्रद्धापूर्वक करना वैज्ञानिक तथा आत्मिक प्रकारसे सब मल दूर करदेता है । यज्ञ और क्रतु देव-यज्ञके अनेक रूप हैं । परन्तु नित्य किया जाकर अग्निहोत्र उन सबसे अधिक उपकारक बन जाता है । इसलिये इसकी पदवी सब यज्ञोंसे उत्कृष्ट है । स्वर्गके मार्ग पर चलने वालोंके लिये यह दीपकका काम देता है । आध्यात्मिक विकासको प्राप्त होना ही स्वर्गको प्राप्त करना है ।

३. “असंस्थितो वा एष यज्ञः । यदग्निहोत्रम्”

तै० ब्रा० १ । ४ । ६ ॥

“एतद्वै जरामर्यं सत्तं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा ॥” शत० १२।४।१।१॥

अर्थ:—(एषः) यह (यज्ञः) यज्ञ (वै) निश्चय करके (असंस्थितः) न नाश होने वाला है, (यद्) जो (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र है। (एतत्) यह (सत्तं) सत्त (वै) निश्चयपूर्वक (यत्) जो (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र है, [यह] (जरामर्यं) बुढ़ापे तथा मृत्यु पर्यन्त चलने वाला है, (वा) या तो (जरया) बुढ़ापेद्वारा (हि) क्योंकि [मनुष्य] (अस्मात्) इससे (मुच्यते) छूटता है (वा) या (मृत्युना) मृत्युद्वारा।

भाव:—अग्निहोत्र नित्य कर्म है। अति वृद्ध होकर जब अंग काम न कर सकें, या जब मृत्यु आ जावे, तभी इसका त्याग होसकता है। शेष सब अवस्थाओंमें मनुष्यका कर्त्तव्य है कि अग्निहोत्र करता रहे।

४. नौ ह वा एषा स्वर्ग्या । यदग्निहोत्रम् ।

(शत० २।३।३।१५॥)

अर्थ:—(यत्) जो (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र है, (एषा) यह (ह वै) निश्चय करके (स्वर्ग्या) स्वर्गको प्राप्त करानेवाली (नौः) नौका है।

भाव:—प्रत्येक नरनारीको इस नौकापर चढ़कर स्वर्ग पहुँचना चाहिए। मत कोई कहे कि मैं निर्धन हूँ, कहांसे खर्च करूँ। देखो ऋषियोंने धर्मके मार्गको कितना सरल बना दिया है। सुनो, महाराज जनककी सभा लग रही थी। याज्ञवल्क्य मुनिसे राजाने यह प्रश्नोत्तररूप सम्वाद किया—

वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्या३इति वेद सम्राडिति किमिति
पय एवेति ।

अर्थः—(याज्ञवल्क्य), (वेत्थ) तुम जानते हो (अग्नि-
होत्रं) अग्निहोत्र [का स्वरूप क्या है] ? (सम्राट्) हे राजन्
(वेद, इति) मैं जानता हूँ । [राजा बोला] (किम् इति) वह
क्या है ? [ऋषि बोला] (पयः, एव, इति) [महाराज !]
दूध ही [अग्निहोत्र] है । अर्थात् दूध द्वारा अग्निहोत्र सर्वोत्तम
प्रकारसे किया जा सकता है । भाव अन्दर हो और दूध मिलता
हो, तो अग्निहोत्र हुआ २ ही जानो ।

“यत्पयो न स्यात् । केन जुहुया इति” ।

[राजा ने कहा, यदि दूध ही अग्निहोत्रका परम साधन
है, तो] (यत्) यदि (पयः) दूध (न) (स्यात्) हो [तो]
(केन) किस द्वारा (जुहुयाः, इति) तुम होम करोगे ?

“व्रीहियवाभ्यामिति ।”

अर्थः—[महाराज ! कोई चिन्ता नहीं] (व्रीहियवाभ्याम्-
इति) चावल और जौ का होम करेंगे ।

“यद् व्रीहियवौ न स्यातां केन जुहुया इति ।”

अर्थः—[राजा ने कहा] (यद्) जब (व्रीहियवौ)
चावल और जौ (न) (स्यातां) हों (केन) किस [पदार्थ]
से (जुहुयाः इति) होम करोगे ।

“या अन्या ओषधय इति ।”

अर्थः—[महाराज] (याः) जो (अन्याः) दूसरी
(ओषधयः) ओषधियाँ [हैं, उनके द्वारा]

“यदन्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति ।”

अर्थः—(यत्) जब (अन्याः) दूसरी (ओषधयः) ओषधियां (न) (स्युः) हों [तो] (केन) किस द्वारा (जुहुया इति) होम करोगे ?

“या आरण्या ओषधय इति ।”

अर्थः—[महाराज !] (याः) जो (आरण्याः) जंगली (ओषधयः) ओषधियां [होती हैं, उनके द्वारा]

“यदारण्या ओषधयो न स्युः केन जुहुया इति ।”

अर्थः (यत्) जब (आरण्याः) जंगली (ओषधयः) ओषधियां (न) (स्युः) हों [तो] (केन) किस द्वारा (जुहुया इति) होम करोगे ?

“वानस्पत्येनेति ।”

अर्थः—[महाराज !] (वानस्पत्येन, इति) वनस्पतियों द्वारा [होम करूंगा]

“यद्वानस्पत्यं न स्यात्केन जुहुया इति ।”

अर्थः—(यत्) जब (वानस्पत्यं) वनस्पतियां (न) (स्यात्) होंगी (केन) किस द्वारा (जुहुयाः) होम करोगे ?

“अद्भिरिति ।”

अर्थः—[महाराज !] (अद्भिः, इति) जल द्वारा ।

“यदापो न स्युः केन जुहुया इति ।”

अर्थः—(यत्) जब (आपः) जल (न) (स्युः) होगा (केन) किस द्वारा (जुहुया इति) होम करोगे ?

स हो वाच । न वाऽइह तर्हि किं चनासीदथैतदह्य-
तैव सत्यं५श्रद्धायामिति ।

अर्थः—(सः) वह (ह) निश्चय करके (उवाच) बोला । (वै) निश्चयरूपसे (इह) यहां (तर्हि) जब (किंचन) कुछ भी (न) (आसीत्) था, (अथ) तब [भी] (अह्यत-एव) होम कियाही गया था [कैसे ?] (श्रद्धायां) श्रद्धा [की आग में] (सत्यं इति) सत्यको [डाला गया] ।

यह सुनकर महाराजने प्रसन्न होकर कहा—

“वेत्थाग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य धेनुशतं ददामीति”

अर्थः—(अग्निहोत्रं) अग्निहोत्रको (वेत्थ) जानतेहो (याज्ञवल्क्य), [तुम्हें] (धेनुशतं) सौ गौ (ददामि) देता हूं ।

भावः—कितना गौरवयुक्त संवाद है । अग्निहोत्र नित्य-धर्म है । यह आवश्यक नहीं कि सम्पत्ति वालेही इसे कर सकें । निर्धनसे निर्धन इसे कर सकता है । श्रद्धा और सत्यके धारण करनेकी आवश्यकता है । सृष्टिके आरंभमें परमात्मा स्वयं श्रद्धाको धारण करके अपने सत्य नियमोंका प्रकाश करता है । आदिहोता स्वयं भगवान् है ।

“अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च” ।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १ । ९) ॥

अर्थः—(अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र (च) और (स्वाध्याय-प्रवचने) स्वाध्याय तथा उपदेश (च) भी [मनुष्यों के लिये करने योग्य हैं] ।

भावः—जैसे पूर्व खण्डमें याज्ञवल्क्य ऋषिने कहा था,

अग्निहोत्रमें दो बातें अवश्य होनी चाहियं । इनके बिना यज्ञ नहीं होसकता । यह श्रद्धा और सत्य हैं । सत्य तत्त्वज्ञानका परिणाम है और श्रद्धा उसकी धारणाका नाम है । ऋषियोंका यह कहना है कि स्वाध्याय तथा प्रवचनद्वारा नित्य ज्ञानके स्रोतको प्रवाहित रखनेसे अग्निहोत्रका कर्म पूर्ण फलके देने वाला बन सकता है । उसके बिना वह विवेक तथा आत्मिक विकासका साधन नहीं बन सकता । वह उस घोड़ेके समान होगा, जो मार्ग पर चलाने वालेके बिना इधर उधर जंगलमें धके खाता है । इसीका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले खण्डमें किया जाता है ।

६. “स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथांगारान-
पोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात् ॥ १ ॥ अथ य एत-
देवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु
सर्वेष्व्वात्मसुहुतं भवति ॥ २ ॥ तद् यथेष्पीकातूलमग्नौ प्रोतं
प्रदूयेतैवँ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वाना-
ग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥ तस्मादु हैवं विद्यद्यपि चण्डालाया-
च्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि है वास्य तद्वैश्वानरं हुतं स्यादिति
तदेष श्लोकः ॥ ४ ॥ यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥ ५ ॥

(छान्दोग्य० ५ । २४ । १—५ ॥)

अर्थः—(सः) वह (यः) जो (इदं) इस [आत्मिक
एकता तथा विस्तारके तत्त्व] को (अ-विद्वान्) न जानता हुआ

(अग्निहोत्रं) अग्निहोत्रको (जुहोति) करता है, [तो] (यथा) जैसे [कोई] (अंगारान्) अंगारोंको (अपोह्य) परे हटाकर (भस्मनि) भस्ममें (जुहुयात्) आहुति डालदे (तत्) वह [अग्निहोत्र] (तादृक्) वैसेही (स्यात्) होगा ॥ १ ॥ (अथ) और (यः) जो (एतत्) इस [तत्त्व] को (एवं) इस प्रकार (विद्वान्) जानता हुआ (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्रको (जुहोति) करता है (तस्य) उसकी (सर्वेषु) सब (लोकेषु) लोकोंमें (सर्वेषु) सब (भूतेषु) भूतोंमें (सर्वेषु) सब (आत्मसु) आत्माओंमें (हुतं) आहुति डाली हुई (भवति) होती है ॥ २ ॥ (तत्) इसलिये (यथा) जैसे (इषीकातूलं) सरकण्डेका अगला बुरदार सिरा (अग्नौ) आगमें (प्रोतं) डाला हुआ (प्र-दूयेत) राख होजावेगा (एवं) ऐसे (ह) ही (अस्य) इसके (सर्वे) सब (पाप्मानः) पाप (प्र-दूयन्ते) नष्ट होजाते हैं [किसके ?] (यः) जो (एतत्) इसको (एवं) इस प्रकार (विद्वान्) समझता हुआ (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र (जुहोति) करता है ॥ ३ ॥ (तस्मात्) इसलिये (उ) ही (ह) निश्चय करके (एवंवित्) ऐसा विद्वान् (यदि-अपि) चाहे (चण्डालाय) चण्डालको (उच्छिष्टं) शेष बची हुई (सामग्री) (प्रयच्छेत्) दे डाले, (तत्) वह (अस्य) इसकी (ह-एव) वस्तुतः (वैश्वानरे) सब मनुष्योंमें व्यापक (आत्मनि) आत्मामें (हुतं) डाली हुई आहुति (स्यात्) होगी (तत्) इस (की पुष्टिमें) (एषः) यह (श्लोकः) श्लोक [भी है] ॥ ४ ॥ (यथा) जैसे (इह) यहां (क्षुधिताः) भूखे (बालाः) बच्चे (मातरं) माताकी (परि-उप-आसते) शरणमें जा बैठते हैं (एवं) ऐसे (सर्वाणि) सारे (भूतानि) प्राणी (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्र के (उपासते) शरणागत होते हैं ॥ ५ ॥

भावः—पूर्वोक्त प्रकारसे अपना और संसारका संबंध समझता हुआ, अपने आपको लोकहितके लिये आचरणद्वारा समर्पण करता हुआ, जो अग्निहोत्र करता है, उसीको पूर्णफलकी प्राप्ति होती है । केवल कर्मकाण्डी लोगोंका कलायन्त्रकी तरह आहुतियां डालते चले जाना भस्ममें बहुमूल्य पदार्थोंका नाश करना है । तत्त्वका विद्वान् यज्ञके अवशेषको चाण्डालको भी देकर पतित नहीं होता । उसके हृदयको तो अब परमतत्त्वकी एकताके जागते हुए भावने सहानुभूतिका सिन्धु बना रखा है । उसे उसका होम प्राणिमात्रकी रक्षा सिखाता है । और, उस रक्षाकी क्रियाद्वारा वह मातृशक्तिकी धारणाको स्थापित करता है । ऐसे महाभाग, लोकप्रिय, प्रभुभक्तके पास पाप फटक नहीं सकता । समीप आते हुए, मानो, भय खाता है कि कहीं उसकी आत्मिक अग्निकी ज्वालासे झुलस न जाऊँ ।

पाठकवर्ग ! इस प्रकार शास्त्रोंमें इस परम पुनीत् धर्मके पालनका उपदेश पाया जाता है । इस प्रकरणमें प्रायः उपनिषदोंके ही आधार पर वर्णन किया गया है ताकि लोगोंकी भ्रान्ति दूर होकर, उन्हें वेदान्त-प्रतिपादित सच्चे कर्मकाण्डका महत्त्व पता लगे । अगले प्रकरणमें दूसरे प्रकारसे इसी विषयका विस्तार देखिये ॥

—:०:—

द्वितीय प्रकरण

अग्निहोत्रके सांकेतिक लाभ ।

१. कौन मनुष्य साधारण है और कौन असाधारण है । तारों भरी रात्रि है । गरमीकी ऋतुमें लोग मकानोंकी छतों पर

खाटें बिछाये सो रहे हैं । एक आदमीको किसी चिन्ताने धेर रखा है । सौ बार बुलाने परभी निद्रादेवी उसकी ओर एक आंख उठा कर भी नहीं देखती । आकाशकी ओर देख २ कर उसकी आंखें भी थक गयी हैं । एक और आदमी साथके मकान पर इसी अवस्थामें है । वहभी नहीं सो सका । परन्तु उसकी टिकटिकी कहीं और लगी है । वह ऊपर आकाशकी छतपर नाचते हुए तारोंके नाचका आनन्द ले रहा है । वह अपने मनही मनमें रेखाएं खेंच रहा है और पैमायश कर रहा है । तारोंकी ध्वनि बड़ी सूक्ष्म है । पहिला व्यक्ति साधारण है, उसे कुछ सुनाई नहीं पड़ता । दूसरा असाधारण है, वह उनके संबोधनको समझता है । बस, यही प्रत्येक बात में भेद समझो । असाधारण बुद्धिवाले लोग लोक-साधारण बातोंमेंसे भी अपनी बुद्धिके चमत्कारसे असाधारण भाव निकाल लिया करते हैं । उनके लिये पत्ता २ जीवित और जागृत है । उनके लिये प्रत्येक पदार्थ अनेक प्रकारके उपदेश लेकर खड़ा है ।

२. संकल्प-शक्ति भी बड़ी अद्भुत सम्पत्ति है असाधारण व्यक्तियोंके जीवन चरित पढ़ो । सबसे बड़ी बात उनमें यह प्रतीतहोती है कि मानसिक बलके धनी होते हैं । निर्धनसे निर्धन कुलोंमें जन्म लेकर अपनी इस पूँजीके आधारपर करोड़-पति बन जाते हैं । स्वयं राज्य करने लग जाते हैं । विद्याके मार्ग पर पड़ते हैं, तो वहां कमाल कर दिखाते हैं । त्यागकी ओर चलते हैं, तो उधर पराकाष्ठा तक चले जाते हैं । जो निश्चय करते हैं, उसे पार पहुँचाते हैं । बीच में किसी कामको अपूर्ण नहीं छोड़ते ।

३. आत्मिक विकासकेलिये इन्हीं दोनों गुणोंका होना अत्यावश्यक है । इनको धारण करते हुए जो अग्निहोत्र करता है, उसीकी पूर्वोक्त प्रकरणोंमें शास्त्रोंका आश्रय लेकर प्रशंसाकी गयी थी । वही मनुष्य प्रदीप्त, प्रचण्ड अग्नि ज्वालाको देखकर, उसमें श्रद्धापूर्वक आहुतियोंको डालता हुआ अपने मानसिक वेगसे ऊंचेसे ऊंचे भावोंको अपने अन्दर जगाता है । इसलिये वेदका उपदेश है कि,

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आद्यां रोहन्ति रोदसी ।

यज्ञं ये विश्वतो धार॑ सुविद्वा॑सो वितेनिरे ॥

यजु० १७ । ६८ ॥

अर्थ:—(ये) जो (सुविद्वांसः) अच्छे विद्वान् होकर [अर्थात् उपर्युक्त असाधारण कोटिमें पहुँचकर] (विश्वतः-धारं) सर्वत्र व्यापक और सबके धारण करनेवाले (यज्ञं) यज्ञको (वितेनिरे) करते हैं [वे] (स्वः, यन्तः) सुखावस्थाको पहुँचते हुए (न, अपेक्षन्ते) रुकते नहीं । (द्यां) द्युलोक [और] (रोदसी) पृथिवी और आकाशपर (आ-रोहन्ति) चढ़ जाते हैं ।

भाव:—हर एक व्यक्ति सुख चाहता है, परन्तु वेदके भावानुसार उत्तम सुखका अधिकारी वही होसकता है, जो सबके पालक, यज्ञका विस्तार करे । पूर्ण ज्ञानवान्-होकर, जो ऐसा करते हैं, उनके छोड़े उन्नतिके मार्गपर सरपट दौड़ते हैं । सब लोकोंमें उनका बाधारहित प्रवेश होता है ।

४. इस प्रकारके उच्चकोटिके साधक जब अग्निहोत्र करने बैठते हैं, तो उनके सामने अग्नि और सामग्री एक विश्व-

व्यापी यज्ञका संकेत बन जाते हैं । लकड़ियोंके मुट्टेसे जलाई हुई यह अग्नि विश्वव्यापी भौतिक तेजको स्मरण कराती है । यह तेज पार्थिव आगमें, विद्युतमें, तारों और नक्षत्रोंमें और आदित्यमें चमक रहा है । यह भट्टियां दिन रात धधक रही हैं । एक क्षण भर भी यदि आदित्य शान्त हो जावे, तो न केवल इस पृथिवीपर, वरन सारे सौर जगत्में कोलाहल मच जावे । शरीरोंका अंग, प्रत्यंग ढीला पड़ जावे, अनाज और फूल कुमला और मुरझा जावें । अभाव तो गरमीको हो और नाश सारा रस भी होजावे । यह अद्भुत माया किसकी है ? इन आगके गोलोंको आकाशमें कौन स्थिर रखता अथवा घुमाता है ? इनकी गतिमें कोई अनियम नहीं होता । इनका और इनके नियमोंका धारण करनेवाला भगवान् है, जिसकी उपासना प्राणिमात्रको करनी चाहिये । यह है आस्तिकताका पहिला उपदेश जो अग्नि-होत्रसे मनुष्य सीख सकता है ।

५. इस भौतिक तेजका प्रकाश होता कैसे है ? वैज्ञानिक लोगोंने सूर्यमण्डलमें जलती हुई वायुओं तथा धातुओंका हमें कुछ परिचय दिया है । परन्तु इतना दूर क्यों जाओ ? अग्निको जलानेके लिये सूखे पदार्थोंको भस्म करते जाओ, ज्वाला निकलती रहेगी और प्रकाश होता रहेगा । समिधाएं जलती हुई यह संकेत करती हैं कि “ऐ साधको, अपना आप स्वाहा करदो और फिर तुम्हारे जीवनसे ऐसा प्रकाश उपजेगा कि भूले भटके लोगोंके लिये तुम सैकड़ों वर्षों तक ज्योतिके स्तम्भ बने रहोगे । क्या संसारके पूज्य महात्माओंने इसी तपके परम

पवित्र, पर कठिन व्रतको अपने जीवनका भूषण नहीं बनाया । विना तप और त्यागके प्रकाश नहीं होसकता । परतन्त्र देशोंको स्वतन्त्र बनाने वालो, अविद्याके गढ़में गिरे हुआँको ऊपर उठाने वालो, केवल व्याख्यानोँसे न कभी अधिक फल हुआ है और न आगे होगा । अग्निके प्रकाशसे तप और त्यागका उपदेश ग्रहण करो” ।

६. सूर्यमें जलने वाले धातु अपना क्या बनाते हैं ? अग्निमें जलने वाले पदार्थ अपना क्या बनाते हैं ? पृथिवीमें गल सड़ जाने वाली आमकी गुठली अपना क्या बनाती है ? यह पदार्थ अपना आप खो देते हैं, अपना नाम मिटा देते हैं, परन्तु हमें करोड़ों कोसोंपर प्रकाश मिलता है । हमारे शरीरोंमें जीवन आता है और वायु सुगन्धित होरही है । स्वार्थका त्याग और आत्म-समर्पणका भाव ऊपर २ से हमें अपना आप खोनेके लिये बुला रहे हैं, परन्तु इस निमन्त्रणको जिन्होंने स्वीकार किया है, वे ही इस मर्त्यलोक में अमर होसके हैं ।

७. प्रकाश और अमरताकी प्राप्ति बहुत सस्ती नहीं । अपनी जानपर खेलने वाली बात है । तनिक ध्यान तो करो, इस विश्वव्यापी यज्ञमें इतनी सामग्री खप रही है । इसमें किसी मनुष्यका हाथ नहीं । स्वयं भगवान् सारा चक्र घुमा रहा है । तुम अपनी चिन्ता करो । जो कुछ तुम्हारे पास है, उसमेंसे उत्तमसे उत्तम पदार्थोंको लेकर परोपकार में लगाओ । रही धी लेकर, अग्निहोत्र करने न बैठ जाओ । उत्तमसे उत्तम पदार्थ फूँककर, तमाशा देखना सीखो । अहंकारके मर्दनका यही मार्ग है ।

८. और, देखो । आहुति डालो तो ज्वाला ऊपर ही ऊपर बढ़ती है । तेजकी शिखा दवानेपर भी ऊपरको ही उभरना चाहती है । अग्निहोत्र इसी प्रकारका प्रज्वल जीवन धारण करनेका संकेत करता है । मार्गमें सौ आपत्तियाँ आवें, कष्टोंके पहाड़ खड़े हों । मत डरो और मत घबराओ । पड़ीके नीचे सबको दबाकर, आत्मिक शिखाको ऊपर निकालने का यत्न करो । सदा उच्च लक्ष्य अपने सामने रखो । संकल्प शक्तिको बढ़ाते हुए, उस लक्ष्य तक जानेका निश्चय दृढ़ करते जाओ ।

९. प्रकाश पुण्यका मित्र है । प्रकाशमें भय नहीं होता । निर्भय जीवनको प्राप्त करनेकेलिये पुण्य कार्योंमें अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिये । सत्त्व-गुणको अधिक बढ़ाकर, हिंसादिके क्रूर भावोंको हृदयसे बाहिर निकाल देना चाहिये । जो मनुष्य इस प्रकारसे अग्निहोत्रके प्रकाशसे जीवनका प्रकाश ग्रहण करनेका अभ्यासी होजाता है, उसे मृत्युभी कष्ट नहीं देसकती । उसने अपने जीवनके एक २ क्षणको अपने स्वामीकी कीर्त्तिका विस्तार करनेमें लगाया है, उसे मृत्युसे क्यों भयहो । वह तो, मानो, उसका भी अतिथिवत् सत्कार ही करता है ।

प्रायेणाकृतकृत्यस्तु मृत्योरुद्विजते जनः ।

कृतकृत्याः प्रतीक्षन्ते मृत्युं प्रियमिवातिथिम् ॥

महाभारत, अश्व० १०४ । ६ ॥

अर्थः—(तु) पर (प्रायेण) प्रायः (अकृतकृत्यः) जीवन में निष्फल आदमी (मृत्योः) मृत्युसे (उद्विजते) घब-

राता है । (कृतकृत्याः) सफल जीवन वाले (प्रियं) प्यारे (अतिथिम्, इव) अतिथिकी भान्ति (मृत्युं) मृत्युकी (प्रतीक्षन्ते) प्रतीक्षा करते हैं ।

भावः—जो अपनी शक्तिको उन्नत करके परोपकारयज्ञमें समिधा बन रहे हैं, वे कृतकृत्य हैं । उन्हें मृत्युसे कोई भय नहीं । मृत्यु स्वार्थी, लोभी, विषयी, व्यसनी, पामरोंको ही डरा २ कर लताड़ता है । भद्र पुरुषोंकेलिये तो मृत्यु क्या है, प्रभु-दर्शनके अन्तिमद्वारका उद्घाटन है ।

१०. इस प्रकार जो व्यक्ति प्रतिदिन वेदीपर बैठकर आहुतियां डालता हुआ, भौतिक अग्निके साथ २ आत्मिक ज्वालाको भी प्रदीप्त करता रहता है, वह शनैः २ उन्नति तथा विकासके शिखरपर पहुंच जाता है । इसी उद्देशको सामने रखकर ऋषियोंने मन्त्रोंके साथ आहुतियां डालनेकी मर्यादा बांधी है । वेदके मन्त्रोंका पाठ हमारे चित्तमें अपने पूर्वजोंके प्रति श्रद्धाका एक प्रकाश है । हम इसद्वारा अपना संबंध उनसे जोड़ते हैं और संसारको बतलाते हैं कि हम समस्त संसारके आदि अध्यापक, धर्मप्रचारक तथा संस्कारक महर्षियोंकी सन्तान हैं ।

इससे जहां जातीय गौरव पैदा होता है, संगठनका भाव दृढ़ होता है, मंत्रोंके अर्थोंका विचार करके विज्ञान तथा ध्यानमें सहायता मिलती है, वहां अपनी अधोगति और ढीली ढाली, दशा का चित्र सामने आता है, तो कुछ लज्जासी भी पैदा होती है । अन्दर प्रेरणा पैदा होती है कि इस दशाके सुधारके लिये कुछ सेवा करें । इसी ज्वालाको जगा कर गुरु गोविन्दसिंह

जीके चित्तमें विचित्र नाटक रचानेवाला उत्साह पैदा हुआ था । यही ज्वाला हमें भी मौतकी ठण्डक को हटाकर, जीवनकी उष्णता पैदा करनेकेलिये प्रेरित कर सकती है ।

११. शास्त्रोंमें किस प्रकारके आध्यात्मिक संकेत ग्रहण करनेका उपदेश किया गया है, इसे समझानेके लिये इन मन्त्रोंके अर्थों पर विचार करें ।

“शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्मांश्च शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यहः” ॥ यजु० १७ । ८० ॥

अर्थः—[अग्निहोत्री अग्निकी ओर ध्यान करता हुआ, उसमें वर्त्तमान परमात्माग्निका इस प्रकार ध्यान करे] (शुक्र-ज्योतिः) चमकती हुई ज्योतिवाला (चित्र-ज्योतिः) अनेक प्रकारकी ज्योतिवाला (सत्य-ज्योतिः) अविनाशी ज्योतिवाला (ज्योतिष्मान्) प्रशस्त ज्योतिवाला (शुक्रः) पवित्र करने वाला (ऋत-पाः) नित्य नियमोंका रक्षक (च) और (अति-अंहाः) पापसे मुक्त [है] ।

भावः—प्रभु इस प्रकारका प्रकाशस्वरूप है । अग्नि इसी प्रकारको धारण करता है । उपासक ! हृदय-कन्दराका फाटक खोलदे । इसी प्रकाशसे अपना और दूसरोंका अंधेरा दूर कर । इस प्रकाशमें तेज, पवित्रता, ओज, बल, विचित्रता तथा निर्मलताका होना आवश्यक है ।

“चित्ति जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन्वी-
तिहोत्रा ऋतावृधः । पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे
विश्वाहादाभ्यहविः” ॥ यजु० १७ । ७८ ॥

अर्थ:—(मनसा) मनद्वारा (घृतेन) घृतद्वारा (चित्ति) संज्ञान-शक्तिका (जुहोमि) मैं होम करता हूँ, (यथा) ताकि (वीति-होत्राः) होमकी कामनावाले (ऋतावृधः) सत्यके बढ़ानेवाले (देवाः) देव (इह) मेरे हाँ (आ-गमन्) पधारें । (विश्वस्य) सकल (भूमनः) बहुरूप [जगत्] के (पत्ये) स्वामी (विश्वकर्मणे) सबके रचनेवाले ईश्वरके प्रति (विश्वाहा) प्रतिदिन (अ-दाभ्यं) नाश न हो सकने योग्य (हविः) हविकी (जुहोमि) आहुति डालते रहूँ ।

भाव:—हवन करनेकेलिये केवल घृत अर्थात् भौतिक सामग्री अथवा घीकी नाई बहती हुई श्रद्धाही पर्याप्त सामग्री नहीं । समस्त मानसिक बल तथा चित्तकी निश्चयात्मकवृत्तिका लगाना आवश्यक है । एक प्रकारसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक जीवन संगठित होकर हवन करें । इसका फल यह होगा कि यज्ञकी कामना करनेवाले और सत्यके परिपालक भौतिकदेव, अग्नि आदि तृप्त और प्रसन्न होकर हमें भौतिक लाभ पहुंचावेंगे और मानसिक देवगण विचारात्मक भोजनसे तृप्त होकर संकल्प-शक्तिको बढ़ावेंगे और आत्मा बलवान् होकर अधिक वेगसे ऊपर उठेगा । उपासकको चाहिये कि इस पदवीपर पहुंचनेके लिये, परमात्माका ही ध्यान और प्राप्त करना अपने होमका लक्ष्य बनावे । उसीके चरणोंमें समर्पित होता हुआ, एक २ आहुति डाले । इस हविको नाश नहीं घेर सकता । आत्मा और परमात्माके संबंधमें ही कोई विकार नहीं आ सकता है । इस लिये इसी प्रकारसे श्रद्धा तथा ज्ञानसे युक्त होकर, प्रभुकी प्राप्ति और लोकोपकारको अपना लक्ष्य बनाकर, प्रत्येक

नर, नारीको देवयज्ञ करते रहनेका संकल्प धारण करना चाहिये ।

१२. इस प्रकार अब तक शास्त्रके आधारपर देवयज्ञकी महिमाका विस्तार किया गया है । इस वर्णनमें अधिक भाग संकल्पात्मिक आध्यात्मिक प्रेरणाओं Symbolical Suggestion की है । परन्तु आज प्रत्येक बातकी श्रेष्ठता और उपादेयता उसकी लौकिक और वैज्ञानिक उपयोगितापर निर्भर है । केवल ऋषियोंका नाम लेना विश्वास पैदा करनेकेलिये अति दुर्बल साधन हो चुका है । परन्तु आर्यधर्म स्वयं सिद्धान्तरूपसे विज्ञानका हितैषी है । इसे न केवल इससे भय नहीं, वरन इससे प्रेम है । इस लिये जनताकी रुचि तथा आर्य-ऋषियोंकी शैलीका अनुसरण करते हुए, इस अध्यायके शेष भागमें वैज्ञानिक ढंग पर देवयज्ञकी उपयोगिताको दर्शाया जावेगा । आशा है, विचार-शील पाठक पारलौकिक और लौकिक विचारोंको मिलाकर, दोनों प्रकारसे इस परम, पवित्र धर्मकी उच्चताको अनुभव करनेका यत्न करेंगे । —:०:—

तीसरा प्रकरण* ।

भौतिक लाभ [सामान्य]

१. “जो सुगन्धादि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है उसके अणु अलग २ होके आकाशमें रहते ही हैं, क्योंकि किसी

* इस अध्यायके शेष प्रकरण श्रीदयानन्द ब्राह्ममहाविद्यालय, लाहौर के योग्य छात्र, महाशय वाचस्पतिजी बी. ऐस. सी. धर्मेन्दुने लिखे हैं । इनमें देवयज्ञके भौतिक लाभोंका विचार किया गया है । आशा है, पाठकोंको इनके पाठसे लाभ होगा ।
विश्वबन्धु:

द्रव्यका वस्तुतासे अभाव नहीं होता, इससे वह द्रव्य दुर्गन्ध आदि दोषोंके निवारण करने वाला अवश्य होता है । फिर उससे वायु और वृष्टि जलकी शुद्धिके होनेसे जगत्का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है । इस कारणसे यज्ञको करना ही चाहिये ।” महर्षि दयानन्द, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृ० ५५॥

ऋषिने अपनी महती कृपासे हमारे दुःखोंको अनुभव करते हुए सब वैदिक मर्यादाओंको पुनर्जीवित किया । दयानन्दने बताया कि यज्ञ करनेसे समय पर वर्षा होती है, अन्न अच्छा उत्पन्न होता है, आरोग्यता प्राप्त होती है, और रोग दूर भागते हैं, जैसा कि आदिमें महर्षिकी उपर्युक्त पंक्तियोंसे पता लगता है । हमारा यह दृढ़ निश्चय है कि अग्निहोत्रसे शारीरिक और आत्मिक दोनों प्रकारकी उन्नति हो सकती है, हम इन पृष्ठों में वैज्ञानिक रीतिसे यह दिखायेंगे कि जो कुछ हमारे पूर्वजों और जगद्गुरु दयानन्दने अग्निहोत्रके विषयमें लिखा है वह अक्षरशः ठीक है ।

२. शारीरिक उन्नतिके लिये निम्नलिखित बातोंकी आवश्यकता है:—

(i) अन्नादि पदार्थ अच्छे प्राप्त होसकें, जिनका सेवन करके हमारे शरीर खूब दृष्ट, पुष्ट हों । अच्छे अन्नोंके उत्पन्न होनेके लिये (क) वर्षाकी आवश्यकता है, (ख) और भूमिमें उत्पादन शक्ति अधिक हो, जिससे कृषिमें सहायता मिल सके, इस बातकी आवश्यकता है ।

(ii) यदि हमारे शरीरोंमें सदा रोगका ही निवास रहेगा तो वह भोज्य पदार्थ किस कामके होंगे, हमारा पेट उन्हें पचा

नहीं सकेगा । अतः दूसरी बात यह आवश्यक है कि हम नीरोग रहें । नीरोग रहनेकेलिये (क) शुद्ध वायु (ख) और शुद्ध जलकी आवश्यकता है ।

यदि अग्निहोत्रसे यह सब आवश्यकतायें पूरी होजायें, तो किसी भी बुद्धिमान् निष्पक्ष मनुष्यको इस यज्ञकी उपयोगिता स्वीकार करनेमें ननु नच नहीं करनी चाहिये, और प्रत्येक लोक-हितेच्छुको इसका प्रचार करना चाहिये * ।

चौथा प्रकरण ।

भौतिकलाभ-अग्नि होत्र और वर्षा ।

१. अग्निहोत्र वर्षा लानेमें कितना सहायक है, इस बातको सुगमतासे समझनेके लिये आवश्यक है कि पहिले इस बातका ज्ञान होजाए कि वर्षा कैसे होती है:—

वायुकी दो मुख्य परतें (तहें) हैं, पहिली तो पृथिवीसे छय मील ऊपर तकहै, और दूसरी उससे १२४ मील ऊपर तक । वर्षाके विषय में हमारा सम्बन्ध पहिली छय मीलवाली परतसे है, क्योंकि इससे ऊपरकी परतमें वायु बहुत कम पहुंच सकती है ।

* अगले पृष्ठोंमें जो वैज्ञानिक परीक्षण दिये गये हैं, वह प्रो० रामशरण दासजी सक्सेना और प्रो० मीरीमल्लजी एम० ऐस० सी० ने गुरुकुल कांगड़ीमें किये थे, इनमेंसे बहुतोंका उल्लेख डी० ए० वी० कालिज यूनियन मैग्जीनमें होचुका है ।

नदी समुद्र आदिसे गरम वायु पानीके साथ लेकर ऊपर उठती रहती है । ऊपरकी शीतल वायु भारी होनेके कारण नीचे आजाती है, और फिर वह और जल लेकर ऊपर चली जाती है। ऊपर अधिक शीत होनेके कारण जो जल वायुके साथ जाता है, जम जाता है, वह वायु फिर शुष्क होजाती है, और ठण्डी होकर नीचे आजाती है । यह चक्र इसी रीतिसे चलता रहता है ।

वायु जितनी अधिक गरम होती है, उतनी ही अधिक नमी (जल) ले सकती है । प्रत्येक ताप परिमाणपर एक विशेष सीमा तक नमी रख सकती है । जितनी नमी 15° सैण्टी ग्रेड ताप परिमाणपर वायु में रह सकती है, 20° पर उससे अधिक रह सकती है । जितनी नमी वायु में किसी विशेष ताप परिमाणपर रह सकती है, उससे अधिक जो नमी हो, उसको फालतू नमी कहते हैं । यह फालतू नमी रेणु कणों (Dust particles) पर ओस बिन्दुओंके रूपमें गिर पड़ती है ।

इस सम्बन्ध में एक और नियमका भी, जो कि कार्य कर रहा है, ध्यान रखना चाहिये । कि यह ज़रूर (रेणु-कण) संख्यामें जितने अधिक हों, उतने ही वर्षा बिन्दु छोटे होते हैं, क्योंकि नमी इन पर बटकर ही जमनी है और वर्षा बिन्दु जितने छोटे, होंगे, उतनाही अधिक काल वे मेघके रूपमें ऊपर ठहरे रहेंगे और बरसेंगे नहीं ।

गरम और नमीदार (आर्द्रता पूर्ण) वायु जब ऊपर जाती है, तो वहां दबाओ न्यून होनेके कारण फैल जाती है । फैलनेके कारण ही वह पतली (कम घनता वाली) होजाती

है, नमी उसमें अधिकसे अधिक होती जाती है, इस प्रकार वह अति सम्पृक्त (Supersaturated) होजाती है। इसी प्रकार जो चक्र ऊपर कहा गया है, उसके अनुसार वायु जल लेकर ऊपर चढ़ती रहती है, और बादल बनाती जाती है।

२. इस विषयमें यह बताना भी अत्यन्त आवश्यक है कि रेणु-कण बहुत सहायता करते हैं। ऊपर जो दो परतें बताई गई हैं, उनमेंसे पहिलीपर नत्रजन (Nitrogen) ओषजन (Oxygen) कर्बन द्वि ओषजिद (Carbon dioxide)* और पानीके ठोस कण (जिनमें धुआं, नमक और कीटाणु आदि सम्मिलित हैं) होते हैं। यह जर्ने† भारादिके अनुसार, ऊपर नीचे चार तहोंमें इकट्ठे होजाते हैं। सबसे भारी पृथिवीसे ऊपर आध मील तक, उनसे हलके उनसे ऊपर २॥ मील तक और जो उनसे हलके होते हैं वह कोई छय मील दूसरी तहसे ऊपर तक और सबसे हलके तीसरीसे ऊपर तहें बना लेते हैं।

जो कार्य यह कण करते हैं, वही कार्य भिन्न २ गैसोंके विद्युताविष्ट (Electrified) जर्ने भी करते हैं। इन सब जर्नोंमें बादल बनाने में सबसे अधिक उपयोगी वेही होते हैं, जो अधिक आर्द्रता चूस सकते हैं। इनमें जो जर्ने बहुत ही छोटे होते हैं, वे विद्युताविष्ट होने पर ही नमीको चूस सकते हैं।

* इन नामोंको पढ़कर घबरानेकी कोई आवश्यकता नहीं, ये केवल भिन्न २ गैसों (वायुओं) के नाम हैं।

† इन रेणुकणोंके विषय में यह नहीं समझना चाहिये कि ये बहुत बड़े होते हैं। वस्तुतः ये बहुत छोटे होते हैं, और हमें दीखने अत्यन्त कठिन होते हैं।

यह जर्रे वायुकी नमीको चूसना आरम्भ करते हैं । जब जरोँ पर आर्द्रता (Moisture) की परत (Layer) एक बार, जम जाती है, तो उसके ऊपर और नमीं जमती ही चली जाती है। इस नमीसे जमे हुए रेणु कण इकट्ठे हुए रहते हैं । इसीको मेघ कहा जाता है ।

३. वर्षाके विषयमें वैज्ञानिकोंका मत है कि यह तब होती है, जब वायुकी ऊर्ध्व गति हो । इस गतिसे जब वायु ऊपर, उठती है, तो उससे बादल भी जो उपर्युक्त रीत्यानुसार बनता है, ऊपरको उठता है । ऊपर जानेके कारण वायुके फालतू नमीके बड़े २ विन्दु* बन जाते हैं, जो भारी होनेके कारण अधिक ऊपर नहीं जा सकते, अतः वे वहीं ठहरे रहते हैं । ऊर्ध्व गतिसे वायुमें छोटे और हलके परन्तु संख्यामें कम विन्दु रह गये हैं, वे भी और ऊपर चले जाते हैं, वहां वायु और अधिक सम्पृक्त (Highly saturated) होती है; जैसा कि इस प्रकरणके आरम्भमें बताया जा चुका है । वहां इन थोड़े विन्दुओंपर नमी जमनी आरम्भ होती है, वे पहिले बने हुए विन्दुओंसे भी अधिक बड़े और अधिक भारी बन जाते हैं । भारके अधिक होनेके कारण ये बहुत ऊंचा नहीं रह सकते । ये नीचे गिरना आरम्भ करते हैं । जो पहिले विन्दु बने थे ये उनसे भी नमी लेकर और अधिक भारी हो जाते हैं । इस प्रकार भार इतना अधिक हो जाता है कि वे नीचे पृथिवीपर बरसे बिना रह नहीं सकते ।

* ये कैसे बनते हैं, यह ऊपर इस प्रकरणके आरम्भमें बता दिया गया है ।

४. यह जो सारी विधि वर्षा होनेकी ऊपर बताई गई है, इसके आरम्भमें एक बातकी ओर ध्यान आकर्षित किया गया था, कि ज़रोंकी संख्या कम होनी चाहिये । यदि अधिकहो, तो वर्षा बिन्दु बहुत छोटे होनेके कारण नीचे नहीं बरसते । ये ज़रें जिनपर कि नमी जमती है, इनका नाम केन्द्र (Nucleus) रखा गया है । तो वर्षाके लिये:—

(i) एक बात तो यह आवश्यक हुईकि वायुमें न्यूक्लियस कम होना चाहिये ।

(ii) दूसरी बात जो कि वर्षाके लिये आवश्यक है वह वायुकी ऊर्ध्व गति है । यदि यह ऊर्ध्व गति न हो, तो बादल बना हुआ होनेपर भी वर्षा नहीं हो सकती, जैसाकि पूर्व बताया जा चुका है ।

(iii) जहां ऊपर ज़रोंके विषयमें कहा गयाकि वे कम संख्यामें होने चाहियें, उससे यह न समझा जाये, कि यदि ज़रें सर्वथा नहीं होंगे, तो वर्षा अधिक अच्छी प्रकारसे होगी । क्योंकि जहां उनका कम होना आवश्यक बताया है, वहां हेतु यह दिया गया कि उनकी संख्या अधिक होनेसे वायुकी नमी अधिक भागोंमें विभक्त होकर वर्षाके बिन्दु छोटेहो जायेंगे और बरस नहीं सकेंगे । अतः उनके सर्वथा न होनेसे भी वर्षा नहीं हो सकती, इस लिये ज़रोंका होना अत्यन्त आवश्यक है, जिससेकि वे आर्द्रताको चूस सकें और उनपर नमी जम कर बादल बन सके ।

(iv) यह बातभी अत्यन्त आवश्यक है कि वे ज़रें आर्द्रता चूसनेवाले होने चाहियें ।

५. अब देखना यह है कि हवन इन बातोंमें कैसे सहायक हो सकता है ।

हवन करने पर कार्बनके बे जल ज़र्रे और इसी प्रकारके अन्यान्य ज़र्रे, जो कि केन्द्र (Nucleus) का काम करते हैं, उत्पन्न होते हैं । हवनसे बहुतसे ज़र्रे ऐसे उत्पन्न होते हैं, जिन पर घीकी एक परत (layer) जमी हुई होती है । ये ज़र्रे प्रायः विद्युताविष्ट देखे गये हैं । इनमें आर्द्रता चूसनेकी विशेष शक्ति होती है । इनपर जब नमीकी एक परत जम जाती है, तो और नमी खिचती चली आती है, जैसाकि पहिले बताया जा चुका है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऊपरजो (i) (iii) (iv) शर्तें बादल बननेकेलिये बताई गई हैं, उनके पूरा होनेके लिये हवन अत्यन्त उपयोगी है ।

६. हवन, और विशेष करके बड़े २ हवन करनेसे वायुकी ऊर्ध्व गति होती है, क्योंकि हवन करनेसे नीचेकी वायु उष्ण होकर हलकी हो जाती है और ऊपर चढ़ जाती है । यह ऊपर (iv) शर्तमें बताया जा चुका है कि वायुकी ऊर्ध्व गतिहो तभी बादल बरस सकता है । और वह जो वायुका ऊपर नीचे आने जानेका चक्र आरम्भमें वर्णन किया गया था वह भी चल पड़ता है । इससे सिद्ध है कि वायुमें ऊर्ध्व गति उत्पन्न करनेके लिये अग्निहोत्र अत्यन्त उपयोगी है, और जब तक ऊर्ध्वगति न हो, तो बादलोंके बने हुए होनेपर भी वर्षा नहीं हो सकती । यह कई बार देखा गया है कि कई स्थानों पर सारा २ श्रावण बीत जानेपर भी वर्षा नहीं हुई, मेघ सारा २ दिन आकाश मण्डलमें मण्डलाते रहते हैं, परन्तु वर्षा नहीं होती, लोग प्रतीक्षा

कर २ के थक जाते हैं, आशायें नित्य बांधते रहते हैं, परन्तु वे आशायें निराशामें परिवर्तित हो जाती हैं । ऐसा कई नगरोंमें हुआ । वहां पर फिर बड़े २ हवन यज्ञ कराये गये, वायुमें ऊर्ध्व गति उत्पन्न हुई, तो वहां पर बड़े ज़ोरसे वर्षा हुई * ।

इससे यह स्पष्ट है कि बादल बनानेके लिये और उसको बरसानेके लिये अग्निहोत्र बड़ा सहायक है, और इसीसे यह बातभी समझमें आ जायेगी कि विशेष रीतिसे यज्ञ करनेसे विशेष समयपर वर्षा कराई जासकती है ।

अग्निहोत्रसे वायु मण्डल शुद्ध होता है, यह आगे चल कर सिद्ध किया जावेगा । जब वायु मण्डल शुद्ध होगा तो वृष्टिके जलमें वायुसे अशुद्ध वस्तुएं नहीं मिल सकेंगी, अतः वृष्टिका जल शुद्ध, आरोग्यता प्रद और अच्छे अन्नोको उत्पन्न करने वाला होगा । यह गुण इस जलमें बिना हवन किये उत्पन्न होना कदाचित् असम्भवही है ।

—————:०:—————

* यह बात हमने अपनी आंखोंसे कई बार देखी और कई बार सुनीभी है । रावलपिण्डीमें वर्षा नहीं होती थी, बादल आते थे और चले जाते थे, फिर हमने आर्यकुमार सभाकी ओरसे हवन करने आरम्भ किये, कई सज्जनोंने बड़े २ यज्ञ कराये, वहां खूब ज़ोरसे वर्षा आरम्भ हुई, कई बार तो यहां तक हुआ कि हमारे हवन करते २ ही वर्षा आरम्भ होगई । यही बात और भी कई स्थानोंके विषय में सुनी गई है ।

पांचवां प्रकरण ।

भौतिक लाभ—अग्निहोत्र और अन्नोत्पत्ति ।



१. अच्छे अन्नोत्पन्न करनेकेलिये यह आवश्यक है कि भूमिकी अन्नोत्पादन-शक्ति (Fertility) को बढ़ाया जाये । अमेरिका आदि देशोंमें कृषि (Agriculture) एक नियम पूर्वक विद्या (Science) है । इस बातपर विचार किया जाता है, अनुसन्धान होते हैं, कि पृथिवीकी अन्नोत्पादनशक्ति कैसे बढ़ सकती है, और अन्न अच्छे कैसे उत्पन्न हो सकते हैं । वह इस विषयमें बहुत उन्नति कर रहे हैं । भारतवर्षको कृषिप्रधान देश कहा जाता है, फिरभी इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता ।

जो कुछ पृथिवीकी उपज शक्तिको बढ़ानेकेलिये किया गया है, वह निम्न लिखित पंक्तियोंसे समझमें आ जायेगा ।

जैसे वायुमें कई प्रकारके कीटाणु होते हैं, उनमें कई लाभदायक होते हैं और कई हानिकारक, वैसेही पृथिवीमें भी (मिट्टीमें) कई कीटाणु होते हैं, उनमें कुछ कृषिकेलिये लाभदायक और कुछ हानिकारक होते हैं । भूमिमें कई रासायनिक पदार्थ (Salts) होते हैं, जोकि कृषिमें पौदोंका आहार बनते हैं । खाद आदि डालनेसे नत्रित (Nitrates) बनते हैं, यह भूमिकी उपज शक्तिको खूब बढ़ाते हैं । यह यत्न किया गया है कि वायुकी नत्रजन (Nitrogen) को स्थिर (Fix) करके नत्राईत (Nitrite) बनाये जायें, और उनसे आगे फिर नत्रित बनें ।

यह जो भूमिमें लाभदायक कीटाणु होते हैं, यह नत्रजनको स्थिर करके नत्राईत और नत्राईत से फिर नत्रित बनाते हैं । जो हानिकारक कीटाणु होते हैं वे इन बने हुए नत्रितोंको अपने मूल तत्त्वों नत्रजन आदिमें विभक्त कर देते हैं, और लाभदायक कीटाणुओंको खा जाते हैं । ऐसा होनेपर नत्रित बन नहीं सकते, उस भूमिपर खाद डाली हुई भी व्यर्थ जाती है* । वहांपर इन हानिकारक कीटाणुओंके कारण भूमिकी उपज शक्ति कम होजाती है ।

२. अमेरिका आदि देशोंमें जो कुछ इस विषयमें किया गया है, वह यूं है, कि उन्होंने विविध कृमि-नाशक पदार्थोंके प्रयोगसे हानिकारक कीटाणुओंको मार देनेका प्रबन्ध किया है । वे मरे हुए कीटाणु लाभदायक कीटाणुओंका भक्ष्य बन जाते हैं, इससे लाभदायक कीटाणु संख्यामें बहुत अधिक होजाते हैं । क्योंकि यह नियम है कि यदि खानेको अधिक मिले तो मृत्युभी कम होती है और सन्तानोत्पत्ति भी अधिक होती है, क्योंकि खाना प्राप्त करनेके लिये बहुत परिश्रम (Struggle) नहीं करना पड़ता । इन लाभदायक कीटाणुओंके बढ़नेसे नत्रित बहुत अधिक बन सकते हैं, और भूमिकी उपज शक्ति बढ़ जाती है । जहांपर इस विधिसे लाभ होता है, वहां इसमें एक त्रुटिभी अनुभवकी गई है कि वह कृमिनाशक पदार्थ मिट्टीके साथ मिलाये जानेसे ही अपना कार्य कर सकते हैं, अन्यथा नहीं,

* ऐसा हमने अपने वैदिक आश्रममें भी कई बार देखा है कि किसी वृक्षको पानी भी बहुत दिया गया और खाद भी पर्याप्त डाली गई, फिरभी वह बढ़ा नहीं, सूखता ही गया ।

और फिर उनको मिलानेपर यदि वह मिट्टीमें से शीघ्र निकाले न जायें, तो लाभदायक कीटाणुभी नहीं बच सकते । यदि वे मर जायें, तो लाभके स्थानपर हानि होती है ।

३. दूसरी बात जो कि कृषिकेलिये आवश्यक है वह मिट्टीकी गरमी है । मिट्टीकी इस गरमीको स्थिर रखनेकेलिये आस पासके वायु मण्डलकी गरमीको स्थिर रखा जाता है । इसीलिये कई पौदोंको शीशेके कमरोंमें रखा जाता है ।

शरद् ऋतुमें खेतोंके समीप आग जलानाभी लाभदायक प्रतीत हुआ है, क्योंकि धुएँ के कार्बन (Carbon) कणोंपर कोहरा जम जाता है, और गरमीका परिमाण स्थिर रहता है ।

पाश्चात्य देशोंमें जहां शीत अधिक होता है, वहां इस प्रयोजनको सिद्ध करनेकेलिये गरमीका दुर्वाहक (Bad conductor of heat) एक विशेष कागज बना होता है । वह खेतोंपर बिछा दिया जाता है । इससे मिट्टीका ताप स्थिर रहता है । इस अवस्थामें अंकुर कागजके छिद्रोंमें से निकलता है ।

४. भूमिकी उपज शक्ति बढ़ानेकेलिये अग्निहोत्र बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है । हवन गैस* को कुछ दिन तक खेतकी मिट्टीपर गुजारा गया । उसके पश्चात् देखा गया कि उसका फल यह निकला कि मिट्टीमें नत्रित बनानेकी शक्ति (Nitrifying power) बढ़ गई । इसका यही तात्पर्य हुआ कि हवन गैस हानिकारक कीटाणुओंको मार देती है ।

* हवन करनेसे जो भी गैसें निकलती हैं, उन सब मिली हुई (Mixture of all those gases) को हम हवन गैसके नामसे कहेंगे ।

इस प्रकार जो पाश्चात्योंकी विधिमें झुटि रह जाती है, वह भी दूर होगई, क्योंकि हवनगैस, गैस (वायु) होनेके कारण मिट्टीमें अधिक काल ठहरही नहीं सकती । उसपर अपना कार्य करतेही आगे निकल जायेगी, और पाश्चात्योंकी विधिसे अधिक काल ठहरनेके कारण, लाभदायक कीटाणुओंके भी नाश होनेसे जो हानिकी सम्भावना होसकती है, उसके लिये इस आर्य ऋषियोंकी विधिमें स्थानही नहीं ।

यदि हवन बहुत किये जायें, तो हवनगैस अपने आप खेतोंकी मिट्टीपर अपना कार्य करेगी, इसे उस मिट्टीपरसे गुज़ारनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी । ऐसा होनेसे भूमिकी उपजशक्ति स्वयमेव बढ़ जायेगी ।

५. हवनसे जो कार्बन (Carbon) के कण उत्पन्न होते हैं, उन पर कोहरा जम जाता है, जिससे (जैसा ऊपर बताया गया है) कि वायु मण्डल और मिट्टीकी गरमी एक सुरक्षित ताप-परिमाणपर रह सकती है । इससे स्पष्ट है कि हवन इस कार्यके लिये भी अत्यन्त उपयोगी है ।

६. हवनसे जो कर्बन द्वि ओषजिद (Carbon Dioxide) उत्पन्न होती है, वह वृक्षोंका आहार बन जाती है । अब यह सिद्ध होचुका है कि जिस वायु मण्डलमें कर्बन द्वि ओषजिद साधारणमात्रासे अधिक हो, वहां पौदे अधिक उत्पन्न होते हैं । और साथही यह भी वैज्ञानिकोंने निश्चय कर दिया है कि यह गैस विषैली नहीं होती, अतः जो लोग इस कारण अग्निहोत्र को बुरा कहते हैं वे ध्यान दें । इससे स्पष्ट है कि अच्छे अन्न प्राप्त करनेकेलिये अग्निहोत्र बहुत उपयोगी है ।

छटा प्रकरणा

अग्निहोत्र और आरोग्यता ।

१. हवन करनेसे स्वास्थ्य वृद्धि कितनी होती है, आरोग्यता प्रदान करनेमें यह कितना उपयोगी है, यह बात बड़ी सुगमतासे समझमें आजायेगी, यदि रोग-उत्पत्तिके कारणोंको जान लिया जाये, और फिर विचार किया जाये कि यह यज्ञ किस प्रकारसे उन कारणोंको दूर करनेमें सहायक है ।

रोग दो प्रकारसे उत्पन्न होता है :—

(i) हमारे शरीर सञ्चालन (System) में अपने आप कोई अन्तर पड़ जाये, प्राण धारण वा जीवन-शक्ति (Vitality) न्यून होजाये, जिससे तनिकभी किसी रोगके क्रीडाणुका आक्रमण होनेपर, ऋतुका परिवर्तन होनेपर अथवा शीतोष्ण आदिके लगनेपर मनुष्य रोग ग्रस्त होजाये ।

(ii) हमारे शरीरमें रोगके कृमि बहुत अधिक प्रवेश कर जायें, जिनका कि मुकाबला एक अच्छी जीवन शक्ति रखने वाला मनुष्यभी नहीं कर सकता । ये कृमि वायु जल और अन्न आदि पदार्थों द्वारा शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं ।

२. पहिली बातके विषयमें परीक्षण प्राणियों परही होसकते हैं । इसमें वही नियम कार्य करता है, जो टीकेमें करता है, जैसे-जिसको चेचकका वा प्लेगका टीका कर दिया जाता है, उसकी प्राण-शक्ति इतनी प्रबल होजाती है, कि वह उन रोगोंके क्रीडाणुओंका मुकाबला कर सकता है, और रोगसे

बचा रहता है। इसी प्रकार चूहे आदि प्राणियोंके शरीरमें हवनगैसका घोल (Solution) प्रविष्ट (Inject) करके परीक्षण किये गये हैं।

इस विषयमें असुविधा होनेके कारण पूरे परीक्षण तो नहीं होसके, परन्तु जो कुछ होसका है उसका फल पर्याप्त सन्तोषजनक है। इस अवस्थामें देखा गया है कि प्राणी प्रायः कम रोग ग्रस्त हुए हैं। जो कुछ फल अभी तक हुआ है, उससे आशाकी जा सकती है कि भविष्यमें अधिक परीक्षण होनेपर फल अधिक सन्तोषप्रद निकले।

अग्निहोत्र करनेसे हवनगैस श्वासके साथ फेफड़ोंमें जायेगी, वहांपर जो रक्त शुद्ध होनेके लिये आता है उसमें यह गैस मिल जायेगी, इससे वही कार्य सिद्ध होजायेगा जो ऊपर शरीरमें गैसको प्रविष्ट (Inject) करनेसे बताया गया है।

३. दूसरे कारणको दूर करनेकेलिये आवश्यक है कि वायु जल आदि पदार्थ शुद्ध हों, उनमें रोगोंके कीटाणु रह ही न सकें और जो उनमें जावें वे शीघ्र ही मर जावें।

वायु जल और अन्न आदिकी शुद्धिकेलिये (i) या तो विशेष वस्तुओंकी रासायनिक क्रिया उन पदार्थों पर करानी आवश्यक है, जिनकी शुद्धि होनी है। अथवा—

(ii) किसी अन्य प्रकारसे उन रोगोंके कीटाणुओंका नाश किया जाये।

रासायनिक क्रिया (Chemical Action) के होनेके लिये पदार्थका सूक्ष्म अवस्थामें होना आवश्यक है। स्थूल अवस्थामें रासायनिक क्रिया हो तो सकती है, परन्तु पदार्थ

जितना अधिक सूक्ष्म हो, उतनी ही यह क्रिया शीघ्र और अधिक वेगसे होगी। वह ठोस अवस्थामें सबसे कम, चूर्ण-रूप (Powdered form) में उससे अधिक, द्रव रूप (Liquid form) में और अधिक और वायु रूप (Gaseous form) में सबसे अधिक होती है। यदि एक पात्रमें नमकके तेज़ाब (Hydrochloric acid) में सङ्ग मरमरके बड़े २ टुकड़े आध छटांक डाले जायें और दूसरे पात्रमें उतनेही तेज़ाबमें आध पाव संगमरमर चूर्णित करके डाला जाये, तो चूर्ण शीघ्र तेज़ाबमें घुल जायेगा, और अधिक वेगसे कर्बन द्वि ओषजिद (CO_2) निकलेगी। खाण्ड कोयला निशास्ता आदि यदि सूक्ष्म अवस्थामें वायुसे मिलाकर जलाये जायें, तो बारूदकी भान्ति फट जाते हैं, परन्तु स्थूल अवस्थामें साधारण रूपमें शनैः २ जलते हैं।

४. रासायनिक क्रिया होनेमें निम्न लिखित नियम कार्य करते हैं:—

(i) रासायनिक क्रिया पदार्थोंकी मात्राओं (Molecules) के परस्पर मिलनेपर ही होसकती है।

(ii) रासायनिक क्रियामें केवल पृष्ठकी मात्रायें ही भाग ले सकती हैं, अतः अधिक संख्यामें मात्राओंको रासायनिक भाग दिलानेकेलिये आवश्यक है कि पृष्ठ (Surface) को बढ़ाया जाये, यह तभी होसकता है, यदि पृष्ठपर अधिक मात्रायें आ जायें। पृष्ठपर अधिक मात्रायें तभी आयेंगी यदि उस पदार्थको अधिक सूक्ष्म करके फैला दिया जाये।

(iii) ज़रोंकी पृष्ठ-वक्रता (Curvature) जितनी कम होगी उतना ही वह रासायनिक क्रियामें भाग अच्छी प्रकारसे

ले सकेंगे । वह ज़रें जितने भी सूक्ष्म होंगे, उनकी पृष्ठ-वक्रता उतनी ही कम होगी ।

५. अग्निमें जो पदार्थ यज्ञ करते समय डाले जाते हैं, वे छिन्न भिन्न होकर अत्यन्त सूक्ष्म और गैसरूप में होजाते हैं । अग्निके प्रभावसे पदार्थोंका फैलना भी थोड़ासा विज्ञान पढ़ा हुआ एक विद्यार्थी भी जानता ही है । इससे उन पदार्थोंकी मात्रायें पृष्ठपर अधिक आजाती हैं, और उनकी पृष्ठ बढ़ जाती है ।

हवनसे सब पदार्थोंके ज़रें (कण) बहुत सूक्ष्म होजाते हैं, इससे उनकी पृष्ठ वक्रता (surface curvature) भी कम होजाती है ।

रासायनिक शक्तिके बढ़ानेकेलिये जो तीन बातें ऊपर बताई गई हैं, हवन उन तीनोंकेलिये बहुत उपयोगी है । अतः हवनयज्ञमें जो पदार्थ डाले जाते हैं, यह उनकी रासायनिक क्रिया शक्तिको बहुत अधिक बढ़ा देता है ।

६. जो लोग यह कहते हैं कि सुगन्धित पदार्थोंको यदि घरमें रखा जाय, तो वे अधिक लाभकारी होते हैं, इस ऊपर वाली बातसे उनका मुख बन्द होजायेगा, क्योंकि गैस रूपमें वे सूक्ष्म होकर इतना कार्य करते हैं, जितना उन पदार्थोंके तेल वा अर्क भी नहीं कर सकते ।

इसी सम्बन्धमें एक और बात भी ध्यान देने योग्य है, कि जब किसी वस्तुका सत निकाला जाता है, तो फोटक (फोक) फैंक दिया जाता है, परन्तु पश्चिमी देशोंमें ऐसा होता है कि जो भी वस्तु बनाई जाती है (जैसे खाण्ड, तेज़ाबादि) उसके फोक •

(Byeproducts) से बहुत लाभ उठाया जाता है, उसे फेंका कभी नहीं जाता । अग्निहोत्रमें भी उन पदार्थोंके फोक साथ ही रहते हैं, उनसे कई अन्य लाभ होते हैं ।

७. वायु, जल और अन्न आदिकी शुद्धि कई प्रकारसे की जाती है । पाश्चात्य देशोंमें इस कार्यकेलिये कृमिनाशक (Disinfectants) पदार्थों और कृमिहर (Antiseptics) पदार्थोंका प्रयोग किया जाता है । कई पदार्थ ऐसे प्रयोग किये जाते हैं कि जिनसे खाद्य पदार्थोंमें सड़ांध उत्पन्न न हो । इस प्रकारके पदार्थोंको प्रीजर्वेटिव (Preservatives) कहते हैं । अब देखना यह है कि हवन यह सारे कार्य कहां तक कर सकता है और हवन गैसकी इस कार्यमें उन पदार्थोंके साथ तुलना करनेसे वह कहां तक उपयोगी सिद्ध होती है ।

८. पश्चिममें जो कृमिहर पदार्थ प्रयोग किये जाते हैं, उनमेंसे फिनोल (Phenol) क्रियजोट (Creosote) और उद्रजन द्वि ओषजिद (Hydrogen peroxide) * आदि हैं । यह कीटाणुओंको मारते नहीं किन्तु पदार्थोंको उनके प्रभावसे बचाते हैं ।

कृमिनाशकों (Disinfectants) में हरिणगैस (Chlorine), गन्धक द्वि ओषजिद (Sulphur Dioxide) और ओज़ोन (Ozone) आदि हैं । इनका प्रभाव रोगोंके कीटाणुओंको मारना है ।

* इन नामोंको पढ़कर घबराना नहीं चाहिये, इनके होते हुए भी विषय समझा जा सकता है ।

कई ऐसेभी पदार्थ होते हैं कि वे दोनों कार्य कर सकते हैं । उनके यह दोनों गुण उनकी सान्द्रतापर निर्भर होते हैं । इनमें फार्मैल्डीहाईड (Formaldehyde) आदि पदार्थोंको गिना जाता है ।

इन पदार्थोंको इनके शुद्ध रूपमें प्रयोग किया जाता है । ये थोड़ी मात्रामें बर्ते हुए भी बहुत प्रभाव रखते हैं । इसी लिये इनके प्रयोगमें यह कठिनाई है कि इनको वैज्ञानिक ही वर्तसकता है, क्योंकि यदि थोड़ी सी भी असावधानी हो जाये, तो मनुष्यको भी हानि पहुंचाते हैं * । साधारण मनुष्य उचित सान्द्रताका ध्यान नहीं रख सकता, फार्मैल्डीहाईड जो कि वृक्षोंके लिये उत्तेजक है, यदि साधारण मात्रासे थोड़ासा भी अधिक दिया जाये, तो हानिकारक होता है ।

डाक्टर सर जगदीशचन्द्र बोसने अपने परीक्षणों (Experiments) से एक बात यह निकाली है, कि कई पदार्थ साधारणतया पौदोंकेलिये हानिकारक होते हैं, परन्तु यदि उनमें बहुत सी वायु वा जल आदि पदार्थ मिलाकर (Dilute करके) उनका प्रयोग किया जाये, तो वे उनके लिये लाभकारी होते हैं ।

* इस विषयमें हमारा अपना अनुभव भी है । जब हम डी० ए० वी० कालिजमें वी० ऐस० सी० श्रेणीमें पढ़ा करते थे, तो एक बार परीक्षणशाला (laboratory) में कार्य (Practical) करते हुए हरिण (Chlorine) गैस सूंघने में थोड़ी सी असावधानी होगई, उसका फल यह हुआकि गला रुन्ध गया, श्वासकी गति थोड़े कालकेलिये बन्द हो गई । फिर बाहिर जाकर कुछ काल शुद्ध और खुली वायुका सेवन किया, तब अवस्था सुधरी ॥

६. इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि सान्द्रता अधिक होनेसे ये पदार्थ अधिक नाशक होते हैं । जैसे हम सदा देखते हैं कि धूपके धुपंसे मकड़ी चिऊगटी आदि प्राणी दूर भाग जाते हैं, यदि यही धुआं वायुमें मिला हुआ हो, तो चिऊंटी आदि नहीं भागते, किन्तु मच्छर आदि फिरभी भाग जाते हैं । इससे और भी स्पष्ट होता है कि यदि सान्द्रता कमहो, तो छोटे २ प्राणियोंसे बचनेकेलिये वे पदार्थ उपयोगी होते हैं, और मनुष्यादि बड़े प्राणियोंको भी हानि नहीं पहुंचाते * ।

फार्मैल्डीहाईड आदि पदार्थ कई वस्तुओंको, जिनमें खाद्य-पदार्थभी सम्मिलित हैं, सड़ान्दसे बचानेके लिये प्रयोग किये जाते हैं । परन्तु जहां ये पदार्थ उन वस्तुओंमें सड़ान्द पैदा करने वाले कीटाणुओंको मार कर उनको सड़ान्दसे बचाते हैं, वहां उन खाद्य पदार्थोंके कई आवश्यक भाग (Constituents) जो हमारे शरीरोंकेलिये बहुत लाभकारी होते हैं, उनकाभी साथही नाश कर देते हैं । इतने अंशमें ये हानि-कारकभी होते हैं ।

हवनगैसमें यदि यह दोष न हो, तो स्वीकार करना पड़ेगा कि हवन करना इन सब पदार्थोंके प्रयोग करनेकी अपेक्षा अधिक लाभकारी है ।

* कुछ वर्ष हुए हमारे घरमें मक्खियां एक वार बहुत अधिक थीं, उनको हटानेकेलिये डाक्टरने फार्मलीन (Formaline) का प्रयोग बताया, उसे एक कमरेमें छिड़का गया, उसकी गन्ध इतनी बुरी (Offensive) थी, कि मनुष्य भी वहां न खड़े रह सके, कुछ काल पीछे जब वह स्थान वहां मनुष्यके जानेके योग्य हुआ, तो उसके कोई एक घण्टा पीछे वहां मक्खियां भी आगईं ।

१०. हवनगैसके विश्लेषणसे पता लगा है कि उसमें क्रियजोट, पेल्डीहाईड, फीनोल तथा उडूनशील सुगन्धित तेल होते हैं, परन्तु सान्द्र अवस्थामें नहीं होते, वे इतनी मात्रामें होते हैं कि कीटाणुओंको मार सकें । कई महानुभावोंके मनमें यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि इस बातमें क्या प्रमाण है कि हवनगैसमें ये पदार्थ इतनीही सान्द्र अवस्थामें हों, जिससे कि कीटाणु मर जायें । सम्भव है कि उनकी सान्द्रता इतनी न्यूनहो कि कीटाणुओंपर कुछ भी इसका प्रभाव ही न पड़ सके । ऐसे सज्जनोंको हम निश्चय दिलाते हैं कि उन्हें अधीर नहीं होना चाहिये, इस विषयमें भी हम उनका सन्तोष आगे चल कर कर देंगे ।

हवनगैसमें ये पदार्थ बहुत कम सान्द्र अवस्था (Dilute form) में होते हैं, इस लिये एक छोटासा बालकभी हवन करके उससे लाभ उठा सकता है । इसमें कोई विशेष सावधानीकी आवश्यकता नहीं है । इसमें यह कभी भी नहीं हो सकता कि हवन किया हुआ लाभके स्थानपर हानि पहुंचाये, और न ही इसको करनेके लिये किसी वैज्ञानिक (Scientist) की आवश्यकता है ।

उपर्युक्त प्रीज़र्वेटिव (Preservatives) जो खाद्य पदार्थों के आवश्यक और लाभकारी भागों (Necessary and useful constituents) को भी नाश कर सकते हैं, हवनमें यह बात नहीं । हवनगैसमें ये प्रीज़र्वेटिव गैस रूपमें होते हैं, वह गैस वायुके साथ मिल कर हानिकारक कीटाणुओंको नाश करके निकल जाती है, उससे लाभकारी भागको हानि नहीं पहुंच सकती ।

इससे सिद्ध होता है कि हवनगैसमें वे दोष नहीं हैं, जो कि उन कृमिहर और कृमिनाशक पदार्थोंमें सान्द्रता अधिक होनेके कारण होते हैं, अतः हवन इस विषयमें उन पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक उपयोगी है ।

११. पदार्थ अधिक समय तक पड़े रहनेसे सड़ जाते हैं। उनमें खमीर उत्पन्न होजाता है और दुर्गन्धि आने लगजाती है। यह सब कुछ कीटाणु ही करते हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि पश्चिमी देशोंमें पदार्थोंको सड़ान्द आदिसे बचानेके लिये पदार्थ संरक्षकों (Preservatives) का प्रयोग किया जाता है, जैसे दूधमें फ़ार्मैलीन अथवा सुहागा मिला दिया जाता है, तब वह अधिक काल तक अच्छा रह सकता है। साथ ही ऊपर यह भी बताया गया है कि इन पदार्थोंसे लाभकारी कीटाणुओंका भी नाश होजाता है, फिर दूध आदि पदार्थ अपनी शक्तिको खो देते हैं, परन्तु हवनगैस इस दोषसे रहित है ।

इस विषयमें, कि हवनगैस उन हानिकारक सड़ान्द पैदा करने वाले कीटाणुओंका नाश करती है, जो परीक्षण हुए हैं, वे नीचे दिये जाते हैं। इनसे उन लोगोंको भी उत्तर मिल जायेगा, जो यह कहते हैं कि घरमें सुगन्धित पुष्पादि पदार्थ रखनेसे वायुकी शुद्धि हवन करनेकी अपेक्षा अधिक होती है।

(१२) कांचकी १२ कुप्पियां (750 C. C. Flasks) ऐसी लीं कि जिनमें डेढ़ २ सेर जल आसके। इनमें प्रत्येकमें एक २ कार्क पेसे लगा था, कि जिसमें एक मुड़ी हुई कांचकी नली लगी थी। इस नलीके बाहिरके सिरेपर एक रबड़की नली लगाकर, उसमें एक क्लिप लगाया हुआ था ।

पहिले इन सबको जल-वाष्प (Steamoven) में लग-भग तीन घण्टे रखकर कृमि रहित (sterilize) किया गया । फिर कुप्पियोंका एक २ जोड़ा लेकर उनमें निम्न लिखित पदार्थ डाले गये :—

(i) दूध (ii) दही (iii) मक्खन (iv) खाण्डका घोल (sugar solution) (v) अण्डेकी सफेदी (vi) मांसकी बोटियां ।

इस प्रकार इन बारह कुप्पियोंमें पृथक् २ उपर्युक्त पदार्थ लेकर शीशीपर तिथि डाल कर उन सबको फिर कृमिओंसे रहित (sterilize) करनेके लिये जलवाष्पमें तीन घण्टे रखा । कृमि रहित होजानेके पीछे डाट लगा कर उनको बन्द कर दिया गया । इससे इस बातका निश्चय हुआ कि अब कुप्पियों वा कुप्पियों वाले पदार्थोंमें कृमिओंके उपस्थित रहनेकी कोई सम्भावना नहीं रही ।

इसके पश्चात् इन जोड़ोंमेंसे एक २ कुप्पीमें हवनगैस १५ मिनट तक गुज़ारकर वही डाट लगाकर बन्द करदी गई । फिर इन्हींके साथ वाली दूसरी कुप्पियोंमें वायुकी वायु १५ मिनट तक गुज़ारकर डाट लगाकर बन्द करदी गई । पहिली कुप्पियों पर “हवन गैस” और दूसरी पर “उद्यान वायु” लिख कर तिथि डालकर रखदिया गया । तीन सप्ताह तक प्रति २४ घण्टेके पीछे इनका निरीक्षण बड़ी सावधानीसे करते रहे ।

परिणाम यह हुआ कि जिन कुप्पियोंमें हवनगैस गुज़ारी गई थी, उनमें सड़ाव देरसे आरम्भ हुआ और आरम्भ होनेपर भी रासायनिक क्रियाकी गति धीरे २ बढ़ी । जो पदार्थ

उद्यानकी वायुमें रखे गये थे, उनमें सड़ाव पहिले आरम्भ हुआ और रासायनिक क्रियाकी गति दूसरी कुप्पियोंकी अपेक्षा अधिक वेगसे बढ़ी।

इस सड़ावको देखने तथा उसकी गति जाननेकेलिये उदगन्धिद गैस (Sulphuretted Hydrogen) का परीक्षण सीसक सिरकित (lead acetate) में भीगे हुए पत्रसे किया गया *। हवन गैस वाली कुप्पियोंमें इस गैसकी उपस्थितिकम थी और इसका दबाव (Pressure) भी कम था। उद्यानवायुवाली कुप्पियोंमें इस गैसका दबाव बहुत अधिक था। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिन कुप्पियोंमें हवनगैस गुजारी गई थी, उनमें सड़ावसे गैस कम उत्पन्न हुई थी, अर्थात् सड़ाव कम हुआ था, उद्यान वायुवाली कुप्पियों में सड़ाव अधिक हुआ। यह अवस्था सभी कुप्पियोंमें थी, जिसको हम इस प्रकारसे स्पष्ट दिखा सकते हैं:—

सं	हवन गैस वाली कुप्पियां	उद्यान वायु वाली कुप्पियां
i	सड़ाव देरसे आरम्भ हुआ।	सड़ाव पहिले आरम्भ हुआ।
ii	सड़ाव आरम्भ होनेपर रासायनिक क्रिया धीरे २ बढ़ी।	सड़ाव आरम्भ होनेपर रासायनिक क्रिया एकदम बढ़ गई।
iii	सड़ावसे उत्पन्न गैसोंका दबाव कम था।	सड़ावसे उत्पन्न गैसोंका दबाव बहुत अधिक था।
iv	निश्चित समयमें सड़ाव कम हुआ।	निश्चित समयमें सड़ाव बहुत अधिक हुआ।

* जहाँ पर सड़ाव आदिके कारण उदगन्धिद गैस उत्पन्न हो रही हो वहाँ यह सीसक सिरकित में भीगा हुआ पत्र काला हो जाता है।

इसी प्रकारके एक और परीक्षणमें कुप्पिओंका एक और जोड़ा लिया गया, जिसमें आमका रस डाला गया, अर्थात् सात जोड़े लिये गये, उसमें भी उपर्युक्त फल ही था ।

१३. जो सज्जन यह कहते हैं कि घर में पुष्पादि सुगन्धित द्रव्योंके रखनेसे वायुकी शुद्धि हवन करनेकी अपेक्षा अधिक होती है, इसका उत्तर तो उनको मिल ही चुका होगा कि अग्निसे गृहस्थ वायु हलकी होकर बाहिर चली जाती है और उसके स्थानपर बाहिरकी शुद्ध वायु आ जाती है, यह बात सुगन्धित पदार्थोंको घरमें रखनेसे नहीं होसकती । अग्नि-होत्रसे सुगन्धि भी अधिक और दूर २ स्थानों तक फैलेगी जो कि घरमें रखे सुगन्धित पदार्थोंसे नहीं होसकता ।

दूसरा उत्तर जो उनको यहां उपर्युक्त परीक्षणसे मिलता है, वह यह है कि सुगन्धित द्रव्योंको घरमें रखनेसे वायु उद्यानकी अपेक्षा अधिक शुद्ध नहीं हो सकती । ऊपरके परीक्षणसे यह बात भली भांति स्पष्ट होगयी है कि उद्यान वायुकी अपेक्षा हवन-गैस हानिकारक कीटाणुओंको मारनेमें अधिक उपयोगी है । वैसे भी अग्निको बड़ा भारी (Disinfectant) माना गयाहै ।

१४. इस सम्बन्ध में एक और परीक्षण भी किया गया है । एक पात्रमें कुएंका ताजा जल लिया गया, उसमें हवनगैस तीन घण्टे तक गुजारी गई । इससे जो भी उस गैसके घुलन-शील (Soluble) अवयव थे, वे उस पानीमें घुल गये । वह पानी हस्तपालमें भेजा गया, वहां इससे ब्रण (Wounds) धोये गये । उसकी रिपोर्ट यह आई कि पहिले दिन तो ज़ख्मोंमें मवाद बहुत आया, परन्तु फिर उसमें और

जल मिलाया गया, तब यह लोशन भी विदेशी लोशनोंके समान ही सिद्ध हुआ ।

उन डाक्टरोंका विचारथा कि यदि उन्हें यह स्वदेशी लोशन और मिल सकता, तो वे इसके सम्बन्धमें अधिक परीक्षण करके मैडीकल बोर्ड (Medical Board) में निबन्ध पढ़ते, परन्तु और लोशन उन्हें प्राप्त न हो सका ।

१५. इस विषयमें ये परीक्षण भी किये गये हैं * कि एक कमरेमें हवन होनेके पूर्व मच्छरोंकी संख्या गिन ली गई, फिर उसको हवन करके बन्द कर दिया गया फिर दूसरे दिन प्रातः मच्छरोंको गिना गया, तब संख्या बहुत कम थी । यही परीक्षण अन्य कीटाणुओंपर भी किया गया, तब भी यही परिणाम था । रोगी-शाला (sick room) की वायुपर परीक्षण करनेसे परिणाम और भी सन्तोषप्रद था ।

१६. बहुतसे महानुभाव यह कहते हुए सुने जाते हैं कि अग्निहोत्रसे कर्वन द्विआपजिद (Carbon dioxide) उत्पन्न होती है, वह मनुष्यके श्वास लेनेकेलिये हानिकारक है ।

कर्वन द्विआपजिदसे जो लाभ पौदोंको होता है, उसे तो थोड़ीसी वनस्पति-विद्या (Botany) पढ़े हुए जानते हैं, अतः उसका विशेष उल्लेख यहां करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

एक और लाभ जो आधुनिक परीक्षणोंसे पता लगा है, वह यह है कि हिन्दु मैसेज (Hindu Message) के मैडीकल सप्लीमेंट (Medical Supplement) में यह निकला था †,

* इस परीक्षणका उल्लेख प्रोफैस्सर रामशरणदासजी सक्सेनाने अपने परीक्षणोंमें किया है ।

† इसको वैदिक मैगजीनमें उद्धृत किया हुआ था ।

कि जो लोग चूनेकी भट्टियोंमें कार्य करते हैं उनके विषयमें यह देखा गया है कि उनको प्रायः फेफड़ोंका क्षयरोग नहीं होता । एक फ्रैंच डॉक्टरने क्षयरोगकी एक चिकित्सा निकाली है, वह यह है कि वायुमें कुछ कैल्शियम डस्ट (Calcium dust) पर शुष्क गरमी (Dry heat) का प्रयोग किया जाये, और उस वायुमें कर्वन द्विओषजिद हो । इस वायुमें क्षयरोगका रोगी लम्बे २ श्वास लेवे । ऐसा उसने कई रोगियोंपर किया । एक २ दिन में बारह २ बार यह किया गया, जिसका फल यह हुआ कि बालकोंपर भी इसका प्रभाव बहुत अच्छा था, और बड़ी आयु वालोंपर भी । ऐसा करनेपर क्षय रोगके चिह्न दूर होने आरम्भ हो गये, और रोगियोंका भारभी बढ़ना आरम्भ होगया ।

अग्निहोत्र करनेसे कर्वन द्विओषजिद भी उत्पन्न होती है और गरमी भी । इससे सिद्ध होता है कि अग्निहोत्रकी कर्वन द्विओषजिद भी लाभकारी है ।

१७. दूसरे एक और बात यह भी है कि वायुमें कर्वन द्विओषजिद .०३ प्रतिशतक से .०४ प्रति शतक तक प्रायः होती है । नगरोंमें इससे अधिक होती है । .१ प्रति शतक तक यह हानिकारक नहीं होती । मनुष्यके रक्तमें जितनी गैस होती है, उनमें से ५० प्रति शतक यह होती है । वास्तव में यह गैस अपने आप विषैली नहीं होती । जहां इससे कुछ हानि देखी गई है, वहां कारण यह होता है कि उस वायुमें ओषजन कम होती है, जो कि श्वास लेनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है । जैसे एक चूहेको एक नत्रजन (Nitrogen) के पात्रमें

रखा जाये, तो वह मर जाता है । इसका कारण यह नहीं है कि नत्रजन विषैली गैस है, किन्तु यह है कि वहां ओषजन नहीं है । यही बात यहांपर भी है । जब तक वादी यह सिद्ध नहीं करता कि हवन करनेसे कर्वन द्विओषजिद इतनी अधिक मात्रामें उत्पन्न होती है कि वह ओषजन का स्थान लेकर उसे हानिकारक मात्रा तक कम कर देती है और इस प्रकारसे हानिकारक होती है, तब तक यही मानना पड़ेगा कि यह प्रश्न यूं ही कुतर्क बाजी और वितण्डा वादकेलिये किया जाता है, क्योंकि कभीभी हवन करनेसे हानि नहीं देखी गई, प्रत्यक्षमें लाभ ही दीखता है * ।

इसी सम्बन्धमें हम इतना और भी संकेत कर देते हैं कि कर्वन द्वि ओषजिद जलमें घुलनशील है, अतः जो जल अग्नि-कुण्डके चारों ओर छिड़का जाता है, कुछ गैस उसमें घुल जाती है ।

जहां प्रत्येक पदार्थ (प्रत्येक Organic) के जलनेसे कर्वन द्वि ओषजिदके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है, वहां इस सिद्धान्तको भी ध्यानमें रखना चाहिये कि ऐन्द्रियक पदार्थ (Organic Substance) से कर्वन द्वि ओषजिद उत्पन्न होनेकेलिये एक विशेष ताप परिमाणकी आवश्यकता है । यही कारण है कि कोयलेकी धीमी आगपर काफूरको डालनेसे वह

* एक आर्य समाजके पुरोहितने भिन्न २ मनुष्यों (जिनमेंसे हम भी एक हैं) से कहा कि मैं कभी व्यायाम नहीं करता, कभी नियम पूर्वक भ्रमण भी नहीं करता, भोजनभी साधारण ही करता हूं, परन्तु मेरा स्वास्थ्य सदा अच्छा रहता है, मुखका वर्ण सदा रक्त रहता है, शरीरभी उनका सदा दृष्ट पुष्ट रहता है । बहुत विचारनेपर कई सज्जनोंने उन पण्डितजीको यही उत्तर दिया कि इसका कारण यही है कि आप यज्ञ बहुत करवाते हैं ।

उड़ जाता है और तेज़ आगपर डालनेसे वह धुएं वाली ज्वालासे जलता है । इसी सिद्धान्तके अनुसार कहा जा सकता है कि कस्तूरी जावित्री आदिके जलनेसे सुगन्धि उत्पन्न होती है और कर्बन द्वि ओषजिद हानिकारक मात्रामें उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि प्रत्यक्षमें हानि होती नहीं दीखती ।

१८. जलती अंगीठी वाले कमरेमें दम घुटनेका कारण कोयलेकी अग्निसे उत्पन्न कर्बन-एक-ओषजिद और गन्धकके ओषजिद हैं, वे उत्पन्न होकर ओषजनकी राशिको कम कर देते हैं, और अपने आपभी हानि कारक होते हैं ।

इस प्रकारके कमरेमें यह परीक्षणभी किया गया है कि उसमेंसे कर्बन द्वि ओषजिद निकाल दीगई और जो फालतू गरमी थी उसेभी दूर कर दिया गया, तब भी आलस्य और सिर दर्द होता रहा । और चूहा इस प्रकारके कमरेमें शीघ्र मर जाता है, जहां दूसरी ओर एक चूहेको कर्बन द्वि ओषजिद वाली वायुमें रखा वह इतना शीघ्र नहीं मरा ।

इससे सिद्ध होता है कि वास्तवमें कर्बन द्वि ओषजिद हानि कारक नहीं है, वह और कई विषैली गैसों हैं, जो कि हानि पहुंचाती हैं । मनुष्यके श्वास द्वारा निकले हुए हानि कारक अणु तो हवनसे नाशही होजाते हैं, और यदि ठीक रीतिसे हवन किया जाये, तो कर्बन द्वि ओषजिद और भी कम उत्पन्न होती है । यदि धीका प्रयोग पर्याप्त किया जाये, और समिधायेंभी ठीक परिमाणमें डाली जायें, तो कर्बन द्वि ओषजिद और भी कम उत्पन्न होगी ।

१९. इन सब बातोंसे यह स्पष्ट है कि स्वास्थ्य वृद्धिके

लिये अग्निहोत्र अत्यन्त उपयोगी है । रोगोंके कीटाणुओंका नाश होता है, हमारे शरीरकी जीवन शक्ति बढ़ती है । अतः आरोग्यता प्राप्त करनेके लिये हवन बहुत उपयोगी है ।

सातवां प्रकरण

भौतिक लाभ—उपसंहार ।

१. हवनकी उपयोगिताको बहुतसे विद्वानोंने समझा है । मद्रासके सैनेटरी कमिश्नर कर्नल किंगने १८६८ में वहाँके ग्रैजुएटोंको घृत, चावल और केशर मिलाकर जलानेका आदेश किया था । उनकी सम्मति है कि इनके जलानेसे जो गैसें उत्पन्न होती हैं, वे वायुको शुद्ध करती हैं और हानिकारक कीटाणुओंका नाश करती हैं Henkin's Bubonic Plague (हैनकिन साहिबकी ब्यूबानिक प्लेग नामी पुस्तकमें इसका उल्लेख है) । इसी प्रकारकी, फ्रैंच डाक्टर हैफकिन और डाक्टर ट्रिलवर्टने भी सम्मतियां दी हैं * ।

* एक बार एक नास्तिक सभाने यूनीवर्सिटीकी कैमीकल बोर्ड (chemical board) से यह प्रश्न पूछ भेजा, कि यह जो आर्य लोग हवन करते हैं, यह कैसा है ? इससे हानि होती है वा लाभ ? उस सभामें उस दिन श्री ला० साईदासजी उपस्थित नहीं थे, प्रो० स्पीअर्स आदि थे, उन्होंने उत्तर दे भेजा कि हवन वास्तवमें बड़ा उपयोगी है, जो कर्बन द्वि ओषजिदका प्रश्न उठाया जाता है यह भी निरर्थक है ।

इसके अतिरिक्त अनुभवने भी यही बताया है कि हैजे और प्लेगके * दिनोंमें जहांपर नित्य सायं प्रातः हवन होता है, वह स्थान प्रायः सुरक्षित रहता है ।

२. ऊपरके पृष्ठोंसे यह बात भली भान्ति स्पष्ट होजाती है कि अग्निहोत्र सब प्रकारसे बड़ा उपयोगी है । हमारे शरीरके लिये अच्छे अन्नोंकी आवश्यकता है, अन्न वर्षासे उत्पन्न होते हैं, और वर्षा बादलोंसे होती है, और वर्षाकेलिये बादल बनाने और वर्षाने दोनोंमें अग्निहोत्र यज्ञ बड़ा सहायक है, जैसाकि श्री कृष्णचन्द्रजी गीतामें कहते हैं:—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥

॥ गी० ३ । १४ ॥

यज्ञसे भूमिकी उपज शक्ति बढ़ती है । फिर जब वह अन्न उत्पन्न होजायें, तो उनसे लाभ उठाने और उनके पचानेकेलिये आरोग्यता और अच्छे स्वास्थ्यकी आवश्यकता है । हवनसे हानिकारक कीटाणुओंका नाश होता है, वायु शुद्ध होती है, जल शुद्ध होता है और अन्न अच्छे उत्पन्न होते हैं । शरीरकी जीवन-

* प्लेगके दिनोंमें कई लोग अपने मुहल्लोंमें हमारे वैदिक आश्रममेंसे विद्यार्थियोंको बुलाकर बड़े २ यज्ञ कराया करते थे, हमारेसाथि योंने उन दिनोंमें एक २ दिन में पच्चीस २ यज्ञ करवाये, और उन लोगोंको इनका पर्याप्त लाभ हुआ, कई स्थान प्लेगसे सुरक्षित रहे । और हमारे हां के विद्यार्थी भी उन वाले मुहल्लोंमें जाते रहे, परन्तु यज्ञ करवानेके कारणही वह भी प्रभुकी कृपासे सुरक्षित रहे ।

धारण शक्ति (vitality) बढ़ती है । रोगोंके कीटाणुओंके नाशसे रोग दूर भाग जाते हैं । हवन पदार्थोंमें सड़ाव उत्पन्न होनेको रोकता है । केवल अपने मकानकी ही नहीं, किन्तु दूर २ स्थानोंकी वायुको शुद्ध करता है । यह भी सिद्ध कर दिया गया कि इससे हानि कोई नहीं, सब लाभ ही लाभ होते हैं । बहुतसे पाश्चात्य डाक्टर भी अब इसके लाभोंको स्वीकार कर रहे हैं ।

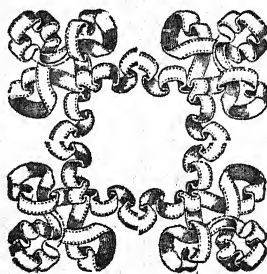
कृमि हर, कृमि नाशक और पदार्थ संरक्षक (Antiseptics, disinfectants and preservatives) जो दूसरे देशों में प्रयोग किये जाते हैं, उनमें जो दोष हैं हवनगैस उन दोषोंसे रहित है ।

कृषिकी उन्नतिकेलिये जो पदार्थ अमेरिका आदि देशोंमें बरते जाते हैं, उनमें जो दोष हैं हवन गैस उन सबसे भी रहित है ।

३. इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि जो वचन जगत-गुरु महाराज दयानन्दका आरम्भ में दिया गया है, वह अक्षरशः ठीक है ।

जब इतने लाभ हैं, तो सब निष्पक्ष सज्जनोंको चाहिये कि अपने प्राचीन ऋषिमुनियों, धर्मशास्त्रों और परमयोगी प्रभु दयानन्दपर विश्वास और श्रद्धा करके हवन करना आरम्भ कर दें, ताकि जो पाप महाराजने सत्यार्थ प्रकाशके तृतीय समुल्लासमें अपने इस पवित्र वचनमें बताया है उससे बच सकें ।

“(प्रश्न) क्या इस होम करनेके बिना पाप होता है ?
 (उत्तर) हां, क्योंकि जिस मनुष्यके शरीरसे जितना दुर्गन्ध
 उत्पन्न होके वायु और जलको बिगाड़कर रोगोत्पत्तिका निमित्त
 होनेसे प्राणियोंको दुःख प्राप्त करता है, उतना ही पाप उस
 मनुष्यको होता है । इस लिये उस पापके निवारणार्थ उतना
 सुगन्ध वा उससे अधिक” वायु और जलमें फैलाना चाहिये ॥”
 सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३९ ॥



अथ मन्त्रव्याख्यात्मकः

तृतीयोऽध्यायः ।

प्रथम प्रकरणा

आरम्भिक विधि ।

—४२५—

१. समय—साधक ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर मलोत्सर्जनके पश्चात् दन्तधावन, स्नान तथा व्यायाम द्वारा बाह्य शुद्धिको करके भीतरकी पवित्रताकेलिये ब्रह्मयज्ञमें प्रवृत्त हो । सन्ध्योपासना तथा स्वाध्यायसे निपटकर, सूर्योदयके होतेही देवयज्ञ अर्थात् नैतिक अग्निहोत्रके लिये तय्यार होजावे । सायंको सूर्यास्तके साथ अग्निहोत्र समाप्त होना चाहिये ।

२. स्थान—प्रत्येक गृहस्थको उचित है कि पूजा तथा अग्निहोत्रकेलिये अपने घरमें एक ओर एक अलग कोठरी निश्चित करे । धनवान् आर्य्य सज्जनोंको मकान बनवाते हुए इधर विशेष ध्यान देना चाहिये । उस कमरेमें पक्का फर्श हो और पक्का ही अग्निकुण्ड बना हो । यह कुण्ड गहरा भी होसकता है और ऊपरको उठा हुआ भी होसकता है । जिनकेलिफ ऐसा करना कठिनहो, वे जहां रहतेहों, वहीं एक कोना इस पवित्र कार्य्यके लिये निश्चित करें और आसन बिछाकर पत्थर या लोहेका कुण्ड आगे रख लिया करें । चौरस कुण्ड बने बनाये अनेक नगरोंमें मिलने लग गये हैं ।

३. पात्र—बड़े २ यज्ञोंमें बहुतसे पात्रोंकी आवश्यकता पड़ती है । उनके आकार और नाम नियत हैं । वे प्रायः गूलरकी

लकड़ीके बने हुए होते थे । आज उन यज्ञोंकी प्रथा उड़ चुकी है । उनके साथ ही उन पात्रोंका भी प्रचार नहीं रहा । झुवा, चमसा आदि कोई २ नाम शेष रह गया है । वर्तमान परिस्थितिके अनुसार साधारण अग्निहोत्रके करनेके लिये एक पीतलकी कटोरीमें घृत रखलेना चाहिये । एक छोटी सी थालीमें होम-सामग्री डालदी जावे । एक जलका लोटा भर कर पास रखलें और एक छोटीसी कटोरीमें भी जल डालकर घृतके पात्रके साथ ही रख लें । आहुति डालनेकेलिये चमचा ले लें । इस प्रकार पांच छोटे २ पात्रोंसे कार्य होसकता है ।

४. समिधा—जण्ड, पलाश (छिछरा), आम, गूलर, बड़, पीपल आदिकी कुण्डके परिमाणके अनुसार सूखी समिधाएं काटकर तय्यार रखनी चाहियें । इनको कीड़ा न लगा हो और न किसी अन्य प्रकारसे मैली और दूषित हों ।

५. होमीय द्रव्य—इस सामग्रीमें (सुगन्धित) केसर, कस्तूरी, चन्दन, जायफल आदि, (पुष्टिकारक) घृत, दूध, अनाज आदि (मिष्ट) शक्कर, झुवारे आदि और (रोगनाशक) गिलो, तुलसी आदि पदार्थ होने चाहियें । इनके वैज्ञानिक प्रभावका इससे पूर्व विचार हो चुका है । यहां विस्तारकी आवश्यकता नहीं । हां, बाज़ारसे जब कूटी कुटाई सामग्री मूल ली जावे, तो देख लेना चाहिये कि वह पुरानी न हो, अच्छी तरह बारीक पीसी गयी हो और यह सब पदार्थ उसमें डाले गये हों । इसी प्रकार घृत भी शुद्ध होना चाहिये । घृतको पिघलाकर थोड़ासा सामग्रीमें मिला लें और शेष आहुतियोंके लिये रहने दें । आज

कलकी अवस्थामें इतने कर्म पर ५) २० मासिक व्यय अवश्य होगा। कई लोग कदाचित् इतना खर्च भी न कर सकते हों। उनका ध्यान पूर्वोक्त जनक याज्ञवल्क्य संवादकी ओर आकर्षित किया जाता है। आप जिस पदार्थका प्रतिदिन भोग करते हैं, उसमेंसे प्रथम कुछ होममें लगा डालो और यज्ञ से बचा हुआ खाओ। यही शास्त्रीय मर्यादा है। पूर्व कहा जा चुका है कि खर्चका प्रश्न अग्निहोत्र करनेमें कभी बाधक मत बनाओ। गेहूँके चार दाने हैं, तो उनमेंसे भी एक दाना डाल दो। देवता तृप्त होंगे, तुम्हारा आत्मिक लाभ होगा। सत्त्व-संशुद्धिके लिये इतना ही पर्याप्त है। प्रभु अधिक देगा, अधिक यज्ञ रचा लेना, परन्तु संपत्ति-शाली होते हुए भी, होम नित्य करते रहो। आन्तरिक जीवनके स्रोतको कभी मत रोको। इस स्रोतका प्रवाह श्रद्धा और त्याग रूपी दो किनारोंके मध्यमें बहता है। प्रिय पाठक-वर्ग ! सदा इस अमर गंगामें अपनी नौका चलाते ही रहो। थोड़ा ही सही, कुछ तो आगे बढ़ोगे ही।

६. इस प्रकार आत्मिक प्रेरणासे युक्त होकर, जब आसनपर बैठ जाओ, तो प्रभुको स्मरण करो। वही सब बलोंका भण्डार है। वही स्वयं यज्ञस्वरूप है। यज्ञरूप होकर ही मोक्ष प्राप्ति होती है।

“यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्या-
सन् । ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः
सन्ति देवाः” ॥ ऋक्० १। १६४। ५० ॥

अर्थः—(देवाः) विद्यादिगुण युक्त देवताओंने (यज्ञेन)

यज्ञ द्वारा (यज्ञं) यज्ञरूप भगवान्को (अयजन्त) पूजा । (तानि) यही (प्रथमानि) मुख्य (धर्माणि) धर्म (आसन्) [समझा जाता] रहा है । (ते) उन (महिमानः) महात्माओंने [उसी] (नाकं) सुखलोकका (सचन्त) प्राप्त किया, (यत्र) जहां (पूर्वं) पूर्व (साध्या देवाः) सिद्ध दिव्यात्मा लोग (सन्ति) [प्राप्त] होते रहे हैं ।

भावः—प्रभु-भक्ति ही एक उपाय है, जिसके द्वारा हम अपने अन्दर उच्चसे उच्च आदर्शकी धारणा कर सकते हैं । प्रत्येक सिद्धिका मुख्य साधन यही है । पवित्र कार्योंके आरम्भमें उसी देवोंके देवका आराधन करना ऋषि लोग अत्यावश्यक समझते हैं । इन भावोंसे युक्त होकर, साधक पहिले स्तुति और प्रार्थनाके मन्त्रोंका पाठ करे और साथ २ अर्थका विचार तथा मनन भी करता जावे । अगले प्रकरणमें इन मन्त्रोंकी व्याख्या ऋषि दयानन्दजी महाराजके प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कार विधिके आधार पर की जाती है ।

—०—

द्वितीय प्रकरण ।

भगवान्की आराधना ।

१. * विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव । यद्भद्रन्तन्न आसुव ॥ यजु० ३० । ३ ॥

* शास्त्रीय नियमानुसार स्वाध्याय अर्थात् वेदपाठके आदि तथा अन्तमें और वर्त्तमान प्रणालीके अनुसार, प्रत्येक मन्त्रके आरम्भमें ओ३म् का उच्चारण करना चाहिये । आगे भी सर्वत्र ऐसा समझें । ओ३म् लम्बे स्वरसे

अर्थ:—हे (सवितः) सकल जगत्के उत्पत्तिकर्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्धस्वरूप, सब सुखोंके दाता परमेश्वर, आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखोंको (परासुव) दूरकार दीजिये। (यत्) जो (भद्रं) कल्याणकारक [गुण, कर्म, स्वभाव और पदार्थ हैं] (तत्) वह [सब हमको] (आ, सुव) दीजिये।

भाव:—साधकके चित्तमें अत्यन्त समर्पणका भाव होना चाहिये। उसके चित्तमें यह विश्वास होना चाहिये कि प्रभु जो कुछ मेरे लिये करता है, वे मेरी भलाईकेलिये ही होता है। वास्तवमें भिन्न २ गुणों, कर्मों, स्वभावों और पदार्थोंका इतना प्रपंच है कि पग २ पर ठीक निश्चय कर सकना भी दुष्कर सा प्रतीत होता है। अतः सच्चा आर्य्य भक्त वह है, जो शास्त्रसे कर्त्तव्यका निश्चय करके, निरन्तर पुरुषार्थ करता हुआ, फलके विषयमें भगवान्की न्यायशीलता और दयालुताकी ओटमें चिन्तारहित होसकता है।

उच्चारण करते हुए परमात्माके समस्त गुणोंका समुच्चयरूपसे भाव अपने अन्दर धारण करना चाहिये। अन्य नाम एक २ भावके वाचक हैं, यह सब भावोंका एक साथ संकेत करता है। कण्ठ खुलता है, ध्वनि निकलती है। होंठ बन्द हो जाते हैं और 'ओ३म्' शब्द बन जाता है। क्या सुन्दर संकेत है। मानो, यह उपदेश होरहा है कि कण्ठसे जितनी विद्यामयी वाणी निकलती है, उसकी परब्रह्म में समाप्ति होजाती है। वहां वाणी और विद्याकी गति नहीं। होंठोंको बन्द करो ओर ध्यानमें लग जाओ। इस प्रकारके अनेक प्रकारके वर्णन शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। इस पवित्रशब्दका मन्त्रोंके आदिमें उच्चारण करो।

२. हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु० १३ । ४ ॥

अर्थः—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करने हारे सूर्य, चन्द्रादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो (भूतस्य) उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत्का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एकही [चेतनस्वरूप] (आसीत्) था, जो (अग्रे) सब जगत्के उत्पन्न होनेसे पूर्व (समवर्त्तत) वर्त्तमान था, (सः) वह (इमां) इस (पृथिवीं) भूमि (उत) और (द्यां) सूर्यादिको (दाधार) धारण कर रहा है । [हम लोग उस] (कस्मै) * सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध

* यह पाद कई मन्त्रोंके अन्तमें है । विद्वानोंमें 'कस्मै' के अर्थके विषयमें मतभेद है । मोटे शब्दोंमें कुछ उसे सर्वनाम समझकर, वाक्यको प्रश्नात्मक बनाते हैं—अर्थात्, मन्त्रका अर्थ चौथे पादसे आरंभ करें और पूर्वके तीन पादोंको क्रमसे उत्तररूप वर्णन समझें । किसकी पूजा करें ? जो ऐसा है इत्यादि संगति लग जाती है । इसमें कोई विशेष आपत्ति नहीं । हां, प्रश्नका अन्तमें आना कुछ असाधारणसी बात है ।

अब रहा दूसरा पक्ष, जिसके अनुसार स्वामी दयानन्दजीने अर्थ किया है । क-शब्द सुखका वाचक है । परन्तु इस अर्थमें निरुक्तादिमें इसका नपुंसक लिंगमें प्रयोग माना है । और, यहां यह पुल्लिंगमें प्रयुक्त है । सुखसे सुखवाले तक पहुंचना सरल है । ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'क' का अर्थ प्रजापति किया गया है । यह भावभी अच्छा है । परन्तु इन दोनों अर्थोंमें इसका चतुर्थी रूप 'काय' होना चाहिये । विशेषतः यह रूप, 'काय' वेदमें प्रयुक्त हुआ २ मिलता है । यहांतक कि एकही मन्त्रमें 'कस्मै' और 'काय' का प्रयोग मिलता है । यद्यपि यह आक्षेप प्रबल है, तो भी ब्राह्मण ग्रन्थोंने इसी मन्त्रके भाष्यमें ही 'क' का अर्थ प्रजापति किया है । इस अर्थको माननेसे पुल्लिंगमें प्रयोगभी

परमात्माके प्रति (हविषा) ग्रहण करने योग्य [योगाभ्यास और अति प्रेम] से (विधेम) भक्ति किया करें ।

भावः—इस ब्रह्माण्डका एकही ईश्वर है । वही कारणा-
वस्था तथा कार्यावस्थामें समानरूपसे नियमन करता है । वह
ज्योतियोंकी ज्योति है । उस परमाधारका ही आश्रय सब
प्रकारके कल्याणका मूल है । उसकी नित्य पूजा करो ।

३. य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य
देवाः । यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा
विधेम ॥

य० अ० २५ । १३ ॥

अर्थः—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञानका दाता
(बलदाः) [शरीर, आत्मा और समाजके] बलका देनेहारा,
(यस्य) जिसकी (प्रशिषं) आज्ञाको (विश्वे) सारे [मनुष्य
और] (यस्य) जिसकी [आज्ञाको] (देवाः) सूर्यादि देवता
(उपासते) पालन करते हैं । (यस्य) जिसकी (छाया) *

संगत होजाता है, क्योंकि विशेषमात्र होनेसे पुष्टिगी विशेष्योंके अधीन
रहता है । वैदिक प्रयोगमें सर्वनामादिके उच्चारणका इतना बन्धनभी नहीं है ।
जैसे ‘दशे विश्वाय सूर्यम्—इसमें (विश्वाय) ‘विश्वस्मे’ के स्थानपर समझा
जावेगा । इसी प्रकार ‘कस्मै’ को भी ‘काय’ के स्थानपर छान्दस प्रयोग कह
सकते हैं । ‘क’ के अर्थोंके लिये देखो ऐ. ब्रा. ३ । २१ ॥ शत० ६ । २ । २ । ५ ॥
६ । ४ । ३ । ४ ॥ कौ० ब्रा० ५ । ४ ॥ २४ । ४, ५, ९ ॥ निरुक्त, २ । ४ । १४ ॥
इत्यादि ॥

* पूर्वार्धमें ‘यस्य’ दो बार प्रयुक्त हुआ है । इसलिये ऊपर अर्थमें दो
वाक्य बनानेकेलिये ‘मनुष्य’ का अध्याहार किया गया है । आचार्यने ‘यस्य’ को
कर्म संबंधमें उपासतेके साथ जोड़कर दो वाक्य बनाये हैं । छायाका अर्थ

आश्रयही (अमृतं) मोक्षप्रदायक है । (यस्य) जिसका [न मानना अर्थात् भक्ति न करनाही] (मृत्युः) मृत्यु [आदि दुःखका हेतु है, हम सब लोग उस (कस्मै) सुख स्वरूप (देवाय, सकल ज्ञानके देने हारे परमात्माकी प्राप्तिकेलिये (हविषा) आत्मा और अन्तःकरणसे (विधेम) भक्ति अर्थात् उसीकी आज्ञा पालन करनेमें तत्पर रहें ॥

आचार्यने और उच्चटादिने आश्रय और ज्ञानपूर्वक उपासना किया है । अर्थात् उस प्रभुका आश्रय, अमृतका हेतु है । इसलिये अगली बातकी संगति लगानेके लिये 'अज्ञान' आदि शब्दोंका अभ्याहार करना पड़ता है । परन्तु इस प्रकारभी हम अर्थ कर सकते हैं कि अमृत और मृत्यु परमात्माकी छायाके समान हैं । जिधर मनुष्य जाता है, उसकी छाया उसके साथ है । अतः छायाका अर्थ हुआ अत्यन्त अधीन । परमात्माके नियमोंके अधीनही संसारचक्र चलता है और साधकोंको सिद्धि और अमृतपदकी प्राप्ति होती है । अर्थात् परमात्माका सर्वत्र प्रभुत्व प्रकट किया गया है, जैसे अन्यत्रभी इसी प्रकरणमें अनेक बार किया है । उपनिषदोंमें भी यही बात कही है ।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ कठ० ६ । ३ ॥

अर्थात् अग्नि, सूर्य, विद्युत्, वायु और मृत्यु प्रभुके भयसे ही अपना नियम पालन करते हैं ।

“सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किं च”

बृहदारण्यक० ५ । ६ । १ ॥

अर्थात् जो कुछभी यहां है, सबके ऊपर शासन उस प्रभुका है ।

“यस्मिंस्तु पच्यते कालः” मैत्रि० ६ । १५ ॥

अर्थात् काल-मृत्यु सबको पकाता है, परन्तु स्वयं उसका पाक प्रभुमें होता है ।

“स कालोग्निः स चन्द्रमाः” कैवल्य०, ८ ।

४. यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

यजु० २३ । ३ ।

अर्थः—(यः) जो (प्राणतः) प्राणधारी (निमिषतः) नेत्रादि द्वारा नाना क्रियाओंके करनेवाले (जगतः) जगत्का (महित्वा) महिमा द्वारा (एकः) एक (इत्) ही (राजा) (बभूव) हुआ [और है] (यः) जो (अस्य) इस (द्वि-पदः) दो पांववाले (चतुष्पदः) चौपाये [भूत-समुदाय] पर (ईशे) शासन करता है (कस्मै) उस आदन्दरूप (देवाय) प्रकाशके देनेहारे भगवान्की (हविषा) श्रद्धापूर्वक (विधेम) हम पूजा करें ।

भावः—प्राणधारी और चेष्टावान् दो विभाग करनेसे चेतन और अचेतन दोनोंका ग्रहण होजाता है । प्रभुका अप्रत्यक्ष हस्त सबको हिला रहा है । वह एक, असहाय, सम्पूर्ण चक्र

अर्थात् भगवान् कालरूप है ।

“कालः प्राणश्च भगवान्” चूलिका, १२ ॥

अर्थात् भगवान् संसारका प्राण जीवनदाता और काल-संहर्ता है ।

“कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्”

अर्थात् लोक-संहार करनेवाला काल मैं हूँ ॥ इ यदि अनेक प्रकरणोंमें इसी भावका विस्तार पाया जाता है । एक और प्रकारसे भी यह भाव निकल सकता है ।

“अमृतं यस्यच्छाया”

अर्थात् अमृत-मोक्ष जिसकी कृपामात्र है और “यस्य मृत्युः” मृत्युके सम्पूर्ण नियम जिसके, अधीन हैं । इस प्रकार ‘अज्ञान’ या अन्य किसी शब्दके अच्चाहारकी आवश्यकता नहीं ।

चला रहा है । कितना बलपूर्वक प्रभुकी एकता और नियामकताका वर्णन किया गया है । वैदिक धर्म इसी देवकी पूजा करना सिखाता है ।

५. येन द्यौरग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ यजु० ३२।६ ॥

अर्थ:—(येन) जिसके द्वारा (द्यौः) द्यु-लोक (उग्रा) तेजसे युक्त है (च) और (पृथिवी) (दृढा) दृढ़ है (येन) जिसके द्वारा (स्वः) सूर्यादि मण्डल (स्तभितं) धारण किये जा रहे हैं, (येन) जिसके द्वारा (नाकः) मोक्षका आनन्द [प्राप्त होता है], (यः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (रजसः) लोक-समूहका (विमानः) निर्माण करके गति आदिका नियामक है (कस्मै) उस आनन्दरूप (देवाय) प्रकाशप्रद प्रभुकी (हविषा) श्रद्धासे (विधेम) पूजा करें ।

भावः—द्युलोकका प्रकाश और पृथिवीका असंख्य प्राणियोंका धारण करनेका सामर्थ्य, सूर्यादिका धारण और मोक्षका आनन्द, लोकोंका बनाना और उनका घुमाना—यह सब चक्र उसी देवकी शक्तिसे चल रहा है । उसीकी पूजा करनी चाहिये ।

६. प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

ऋक् १०।१२१।१० ॥

अर्थ:—हे (प्रजापते) सब प्रजाके स्वामी परमात्मा, (त्वत्) आपसे (अन्य) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (पतानि) इन (विश्व) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़, चेतनादिकोंको (न) नहीं (परि-बभूव) दबाकर रखता है । (यत्कामाः) जिस २ पदार्थकी कामना वाले हम लोग (ते) आपका (जुहुमः) आश्रय लेवें, (तत्) वह २ कामना (वः) हमारी (अस्तु) सिद्ध हो, जिससे (वयं) हम (रयीणां) धनेश्वर्योंके (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ।

भाव:—परमात्मा सर्वोपरि विराजमान है । मनोवाञ्छित आनन्दकी पूर्तिकेलिये प्रत्येक भक्तको उसीका द्वार खटखटाना चाहिये । ऐश्वर्य धर्मके कार्योंमें परमसाधन है । इसलिये यहां मुख्य प्रार्थना यही है कि भगवन् ! हमारा ऐश्वर्य बढ़ता रहे । हमारी जाति कंगली जाति न हो । हमारा देश धन, धान्यसे भरपूर रहे ।

७. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्वैरयन्त ॥

यजु० ३२ । १० ॥

अर्थ:—(यत्र) जिस (तृतीये) तीसरे (धामन्) धाममें (अमृतं) अमृत अर्थात् मोक्षको (आनशानाः) प्राप्त होते हुए (देवाः) विद्वान् लोग (अधि-पेरयन्त) स्वेच्छा से विचरते हैं, (सः) वह [प्रभु] (नः) हमारा (बन्धुः) भ्रातृवत् सहायक (जनिता) सबका उत्पादक (सः) वही (विधाता) सबका निर्माण तथा धारण करने वाला है [और] (विश्वा) सकल

(धामानि) जन्मों, नामों और स्थानों [तथा] (भुवनानि) लोकोंको (वेद) पूर्णतया जानता है ॥

भावः—सर्वज्ञ प्रभुसे कोई पदार्थ छिपा हुआ नहीं । साधकको उसकी व्यापकताका विश्वासी बनकर उसके साथ प्रेम करना सीखना चाहिये । वे तो हमारा परम लक्ष्य और वही असली घर है । एक धाम जीवका और दूसरा प्रकृतिका है । प्रभु दोनोंसे पृथक् है । एक धाम सुखमय है और दूसरा दुःखमय है । प्रभु आनन्दरूप है, सदा परिपूर्ण रहने वाला है । सांसारिक और ऐन्द्रियिक सुखोंकी वहां कोई उपमा नहीं । दुःखोंकी तो बातही क्या करनी । परमविद्वान् इस रहस्यको समझकर, वर्त्तमान अवस्थाको विदेशस्थ यात्रीकी अवस्था मानकर परमात्म-रूपी, अपने वास्तविक घरकी ओर बढ़नेकी चिन्ता करते हैं । वहीं पहुंचकर, मोक्षके आनन्दके वे भागी बनते हैं और स्वेच्छाचारी, स्वतन्त्र, नित्य तृप्त रहने लग जाते हैं । इस प्रकार सब साधक प्रभुकी भक्तिको ही स्वर्गकी सीढ़ी समझा करें ॥

८. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ यजु० ४० । १६ ॥

अर्थः—[हम अब यही चाहते हैं कि] (ते) तेरी (भूयिष्ठं) अधिकतर (नमःउक्तिं) भक्तिको (विधेम) किया करें [इसके लिये] हे (अग्ने) प्रकाशरूप (देव) परमदानी (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) प्रश्नानोंको [आप] (विद्वान्) जाननेवाले

[हो], (अस्मान्) हमें (राये) परमैश्वर्य, मोक्षकी प्राप्तिके लिये (सुपथा) कल्याणयुक्त मार्गसे (नय) ले चलें । (अस्मत्) हमसे (जुहुराणं) कुटिलतायुक्त (एनः) पापको (युयोधि) अलग कीजिये ॥ ८ ॥

भावः—हम भक्ति करना चाहते हैं, पर मार्गमें अनेक शत्रुदल बैठे हैं । बहुधा अपना मनही वैरी बन जाता है । हमें अपने अन्दरकी कुचालोंका इतना परिचय नहीं होता, जितना हमारा स्वामी जानता है । अतः उसीसे सहायता मांगते हैं । वही पूर्ण ज्ञानका आधार और आदिस्त्रोत है । वही हमारे हृदयसे सर्पके समान टेढ़ी चाल चलने वाले पापको निकालकर, मोक्ष तथा ऐश्वर्यके मार्गपर हमें डाल सकता है । हम इस दीन दशामें उसीके भरोसे अपनी टूटी, फूटी नौकाको भव-सिन्धुमें डालते हैं । वही हमारा आश्रय और वही हमारा सहारा है ।

—:०:—

तृतीय प्रकरण ।

स्वस्तिवाचनमन्त्र—व्याख्या ।



परिचय—स्वस्तिका अर्थ है अच्छा बनना इस प्रकरणमें पढ़े हुए मन्त्रोंके मननसे साधक अपने जीवनको उन्नत करें । छान्दोग्य ३। १४। १ ॥ में कहा है “अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः” अर्थात् पुरुषकी उन्नति उसके विचारों पर निर्भर है । उसका सारा वर्तमान और भावी जीवन उसके

संस्कारोंका प्रतिबिम्ब है । संस्कार-शुद्धिकेलिये उच्चसे उच्च भाव सदा सामने रहने चाहियें । पाठक, आनेवाले मंत्रोंके संक्षिप्त संकेतोंको स्वयं मननद्वारा विस्तार देकर पूरा २ लाभ उठावें । आत्मिक विकासही इनका ध्येय है ।

१. अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।

होतारं रत्न-धातमम् ॥ ऋक० १।१।१ ॥

अर्थ:—(अग्नि) ज्ञानस्वरूप (पुरोहितं) [भक्तोंकी दृष्टिमें सदा] सामने रहनेवाले (यज्ञस्य) यज्ञके (देव) प्रकाशक (ऋतु-इजम्) ऋतु-अनुसार यज्ञ करनेवाले (होतारं) सर्वमंगलप्रद और सबके धारण करनेवाले (रत्न-धातमम्) सबसे अधिक रत्नोंके दान करने वालेकी (ईडे) मैं स्तुति करता हूँ ॥ १ ॥

भाव:—अग्नि नाम* द्वारा ध्यान करनेका तात्पर्य प्रकाश-गुणको साधकके सामने लाना है । प्रथमाध्यायमें ज्ञानकी

* आने वाले प्रकरणोंमें अग्नि, वायु, आदि अनेक नामोंद्वारा प्रभुका ध्यान करना बताया है । क्या ये भिन्न २ देवताओंके नाम हैं, या एक परम-ब्रह्मके नाम हैं ? प्राचीन ऋषियोंका यही सिद्धान्त था कि हम परमब्रह्मकी ही पूजार्थ भिन्न २ नामों द्वारा उसके भिन्न २ गुणोंका चिन्तन करते हैं । इसी सिद्धान्तकी पुष्टि ऋषि दयानन्द जी महाराजने बलपूर्वककी है । सायणादि व्यवहारावस्था में नाना देवता और परमार्थ में केवल एक ब्रह्मको ही मानतेहैं। परन्तु ग्रह मध्यकालीन लोगोंका मायावाद वेदोक्त नहीं है । और भूत वह, जो सिरपर चढ़कर बोले । सब वादी उपनिषदोंको परा अर्थात् ब्रह्मविद्याके परम ग्रन्थ मानते हैं । उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंपर इन्हीं नाना नामोंसे ही प्रार्थना, उपासनाकी गयी है । गत प्रकरणका अन्तिम मन्त्र ईशावास्योपनिषद्के अन्तमें

महिमा आचुकी है। इस लोक तथा आनन्दका परम साधन ज्ञानके अनुसार कर्म है। इस मन्त्रमें प्रभुको सब कर्मोंका अधिष्ठाता कहा है। सबसे बड़ा यज्ञ उसने रचाया हुआ है। ऋतु २ में, मास २ में, सप्ताह २ और दिन २ के एक २ क्षणमें वह होता बना हुआ है। इस लिये साधकको चाहिये कि ऐसे ही देवको अपना उपास्य तथा ध्येय बनावे। उसीके स्वरूप को सदा अपने सामने आदर्श बनाकर रखे। कौनसा रत्न है जिसे वह नहीं देसकता? सांसारिक साधक सांसारिक रत्नोंको पावेगा। पारमार्थिक साधक मोक्ष-रत्नोंको प्राप्त होगा। केवलका उपासक केवल बन जावेगा। विभूतियोंवालेका उपासक विभूतिमान बन जावेगा। बस, वह आदर्श है। आदर्श दर्पणको भी कहते हैं। जैसा मनुष्य सामने आवेगा, वैसा ही आकार प्रतिबिम्बित होगा। भौतिक अग्नि उस देवकी एक विभूति है। उसमें

पढ़ा है। मुमुक्षु अन्तिम प्रार्थनाओंके लिये अग्नि संकेत द्वारा ही अपने मानसिक भावोंको प्रकट करता है। उससे पूर्व, पूषन्, यम आदि नामोंसे एक ही परब्रह्मको विशिष्ट किया गया है। इसी प्रकार अन्य उपनिषदोंमें भी सैकड़ों उदाहरण पाये जाते हैं। वेदोंमें इस बातको अन्येरेमें ही नहीं रहने दिया। देखो यजु० ३२।१॥ ऋक्० १।१६४।४६॥ अथर्व० १३।३।१३॥ इन मन्त्रों में स्पष्ट कहा है कि एक ही देवको नाना नामोंसे पुकारा जाता है। इनपर देखो भाष्य और विचारके लिये यास्काचार्य, निरुक्त ७।१।४॥ ७।४।१८॥ दयानन्दभाष्य-ऋग्वेद १।१।१॥ तथा भूमिकान्तर्गत, विज्ञान विषय। इसीका संकेत मेरे 'वेदसन्देश' प्रथम भाग, २।१।२६, ३०॥ के टिप्पणोंमें किया गया है। यहां इसका अधिक विस्तार नहीं किया जा सकता। वेदसन्देशके द्वितीय भागमें पूर्णतया वर्णन पाया जावेगा। उपर्युक्त संकेतसे इतना तो स्पष्ट हो जाना चाहिये कि लोगोंका यह कहना कि अग्नि आदि भौतिक देवताओं या भिन्न २ देवताओंकी पूजा अभिप्रेत है, सत्य नहीं है।

भी ये सब गुण पाये जाते हैं । जिस साधककी दौड़ वहीं तक होगी, उसे भी भौतिक लाभ अवश्य होगा । परन्तु उच्च-कोटिके साधकको इस लाभसे सन्तुष्ट न होना चाहिये । इसी दृष्टिकोणसे इस व्याख्यामें आध्यात्मिक प्रेरणाओंको ही प्रधानता दी गई है ।

२. स नः पितेव सूनवेऽग्रे सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ क्र० १।१।९॥

अर्थः—हे (अग्रे) प्रकःश-पुंज ! (सः) इस प्रकारके आप (सूनवे) पुत्रकेलिये (पिता-इव) पिताकी भांति (नः) हमारे लिये (सु-उप-अयनः) आसानीसे प्राप्त होने योग्य (भव) हूजिए । (नः) हमें (स्वस्तये) कल्याणके लिये (सचस्व) अपने साथ जोड़िये ।

भावः—पुत्रको पितापर विश्वास होता है । गली, मुहल्लेका डर पिताकी गोदीमें आजानेसे भाग जाता है । सौ बार पिता झिड़क भी डाले, तो भी आवश्यकताके समय पुत्र उसीकी शरणमें आता है । अपने साथियोंसे मांगनेमें भी कई बार जब संकोच होता है, उस समय पिताके आगे हाथ फैलाने और उससे सहायता लेनेमें कोई लज्जा नहीं समझी जाती । यह महत्त्व पूर्ण सम्बन्ध है, जो हमारा जगदीश्वरसे है । वैदिकधर्म प्रत्येक साधकको प्रभुका पुत्र समझता और बनाना चाहता है । सच्चा कल्याण तभी होसकता है, जब हम इस नातेसे प्रभुके साथ मन, वचन और कर्मसे जुड़ जावें । यही उपदेश इस मन्त्रके उत्तरार्धमें पाया जाता है । साधक प्रभुसे अपना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़े ।

३. स्वस्ति नोमिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्य-
दितिरनर्वणः । स्वस्तिपूषा असुरो दधातुनः स्वस्तिद्यावा-
पृथिवी सुचेतुना ॥ ऋ० ५ । ५१ । ११ ॥

अर्थः—(भगः) भजनीय ऐश्वर्य्य युक्त प्रभु (नः) हमारे
लिये (अश्विना *) अश्वियोंको (स्वस्ति) कल्याणकारी
(मिमीतां) बनावे । (देवी) प्रकाशमान (अदिति) अखण्डनीय
नियमोंकी धात्री, प्रभुकी शक्ति (अन्-अर्वणः) [हम] चेष्टा-
रहितोंके प्रति (स्वस्ति) उत्साह पैदा करनेवाली हो ।
(असुरः) वृष्टि करने वाला (पूषा) अन्नादिको पुष्ट करनेवाला
प्रभु (नः) हमारा (स्वस्ति) हित (दधातु) धारण करे ।
(द्यावा पृथिवी) तेज और प्रकाशसे जीवन धारण करने वाला,
विस्तृत पृथिवी-लोक (सु-चेतुना) सम्यक् ज्ञानसे युक्त
[प्रवृत्तियों] द्वारा (स्वस्ति) कल्याण करे ॥

* अर्थ विचार इससे पूर्व देवताओंका प्रभुकी विभूतियोंके रूपमें
वर्णन किया जा चुका है । भग और पूषा भी दो विभूतियोंके संकेत हैं ।
साधारणतया यह आदित्य कहलाते हैं । अदिति इनकी माता है । अदितिका
अर्थ है, खण्डनरहित, अदीन शक्ति । सृष्टिके अन्तर्गत भगवान्की शक्ति सारा
कार्य करती हुई, स्थूल दृष्टि वाले, साधारण साधकोंके लिये, सूर्य, चन्द्र, मेघ,
पृथिवि, दिन, रात्रि, आदिके रूपमें प्रकट हो रही है । इनको देखकर साधकको
चाहियेकि इनकी मौलिक सत्ताका विचार करे । शनैः २ मार्ग खुलेगा और
इन विभूतियोंके अन्तर्यामी देवका भी प्रत्यक्ष होने लगेगा । साधारण साधकोंकी
संख्या अधिक है, इस लिये वेद में केवल स्वरूपके वर्णनकी अपेक्षा
विभूतियुक्त भगवान्का अधिक वर्णन किया गया है । इस लिये अग्नि आदि
शब्द जहां २ आवें, वहांपर साधक उन संकेतोंसे भिन्न २ गुणसे भूषित

भावः—ऐश्वर्य बढ़ानेकेलिये व्याप्तिके गुणकी आवश्यकता है । जो धनाढ्य होकर संकुचित रहता है, वह सुखी नहीं हो सकता । इस लिये साधक ध्यानावस्थित होकर यह प्रार्थना

भगवान्‌की ही धारणा करे । वैदिक ऋषि इन जड़ देवताओंके अन्दर उस चेतन ज्योतिको इन्हीं नामोंसे स्मरण करते हैं । यह बाह्य पदार्थ भिन्न २ गुणोंके स्मारक साधन हैं । उपासक ज्यों २ इनके अन्दर जाकर ध्यान करने लगता है, यह बाहिर ही रह जाते हैं और शुद्ध ब्रह्मही नाना शक्तियों और विभूतियोंसे चमकता हुआ ध्येय बन जाता है ।

इसी कारण से इन संकेतोंका ऋषियोंने अनेक प्रकारसे विस्तार किया है । अदिति, अश्विन्, असुर आदि शब्दोंके कई अर्थ किये गये हैं । इन अर्थोंमें साधारण संबंध मूल धातु और प्रत्ययका, अर्थात् शब्दकी बनावटका ही रह जाता है । साधारण पाठक भिन्न २ अर्थ देख कर घबरा उठता है । पर यदि हम वैदिक भाषाको समझना चाहें, तो इसके अतिरिक्त अब और कोई उपाय भी नहीं । या तो यह कहें कि ब्राह्मण तथा निरुक्तादिके रचने वाले ऋषियोंको भी अर्थ भूल चुके थे, क्योंकि उन्होंने भी एक २ शब्दके कई अर्थ किये हैं । अश्विन् शब्द-सूर्य, चान्द; दिन, रात; द्युलोक, पृथिवी-लोक आदि कई अर्थोंमें समझा गया है । दूसरा प्रकार यह है कि इन शब्दों को सांकेतिक ही समझा जावे । अर्थात् शब्द प्रभुकी उस विभूतिका वाचक है जिसके अन्दर दो नित्य जुड़े हुए, विभाग पाये जाते हैं और व्याप्तिका गुण पाया जाता हो । इस कसौटीपर परीक्षा करनेसे इतने अर्थोंका भेद समझमें आसकता है । इसी तरह अदिति शब्दके अन्दर अखण्डन, अनाश, अदीनका भाव पाया जाता है । अब विस्तार पाकर यह भूमि का भी वाचक है । पुराणों में यह आदित्योंकी माता है । पुराने ऋषियोंने भी इसे देवमाता कहा है । पर बात तो ठीक ही है । अखण्डव्रतों का पालन करना ही दिव्य जन्म का मूल है । इस प्रकारसे पाठक आगे भी देवता-वाचक शब्दोंके विषयमें विस्तार समझ लिया करें । पदार्थमें हम प्रायः मूल शब्दको ही रहने देंगे । भावार्थ में कुछ विस्तार कर दिया जावेगा ।

करे कि "ऐश्वर्यके भण्डार । अपने रसीले प्रकाशसे व्यापक चन्द्रमा और उग्र तेजसे व्यापक सूर्य मेरे लिये कल्याण करें । मैं उनसे व्यापक होनेके गुणको सीखूं और धारण करूं ।" दूसरे पादमें प्रभुके अटल नियमोंको अदितिके संकेतसे मनमें लाना है । भगवान्का रथ सदा चलता है । तभी तो यह संसार-चक्र ठोक २ कार्य करता है । इस लिये साधक आलस्य और निश्चेष्टताको त्याग करे और नित्य पुरुषार्थवान् बने । तीसरे पादसे यह शिक्षा धारण करनी है कि व्यक्तिगत तथा जातीय पुष्टिके लिये असुर बनना भी आवश्यक है । असुरका अर्थ राक्षस नहीं, वरन इसके विपरीत, दानशील, वर्षा करने वाला है । वेद में इसका यही मुख्य अर्थ है । शब्दके भी अलग २ इतिहास बन जाते हैं । अन्तमें बताया है कि प्रकाश और विस्तारका मार्ग ज्ञानसे ही खुलेगा । ज्ञानवान् ही अपनी तेजस्विता और विस्तीर्णताको अपने और दूसरोंके हितकेलिये उपयुक्त कर सकता है । इन प्रेरणाओंको अपने अन्दर पैदा करनेसे ही कल्याणका मार्ग खुल सकता है ॥ ३ ॥

४. स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य
यस्पतिः । बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो
भवन्तु नः ॥ ऋ० ५।५१।१२ ॥

अर्थः—हम (स्वस्तये) स्वस्तिके लिये (वायुं) वायुकी (उप, ब्रवामहै) भली प्रकार कीर्त्ति गाते रहें, (भुवनस्य) ब्रह्माण्डका (यः) जो (पतिः) पालक [है, उस] (सोमं) सोमकी (स्वस्ति) के लिये [स्तुति करें] । (सर्वगणं) सकल

गणों सहित (बृहस्पतिं) बृहस्पतिकी (स्वस्तये) स्वस्तिके लिये [स्तुति करें] (आदित्यासः) आदित्य (नः) हमारे (स्वस्तये) कल्याणके [कारण] (भवन्तु) हों ।

भावः—वायुकी स्तुति, वायुके स्वरूपको समझकर उसका उपयोग करना है । असंख्य प्रकारों द्वारा अपने आपको प्रकट करता हुआ, वायु कितने उपयोगका पदार्थ है, यह आज कौन वैज्ञानिक नहीं जानता । वायु विद्या द्वारा सूक्ष्म रहस्योंके सामने खड़े होकर साधकका चित्त वायु विभूतिके मूल-स्रोत, जगदीश्वरके चरणोंमें झुक जाना चाहिये । सोम चन्द्रमा और सोम नाम वाली ओषधिको कहते हैं । चन्द्रके शीतल प्रकाशसे रसीली होकर, ओषधियां कितनी चमत्कार युक्त होजाती हैं । यह सोम-शक्ति सारे जगत्की रक्षा करती हुई, अपने स्वामीकी ओर ले चलती है । बृहस्पतिका संकेत सर्वज्ञानमय भगवान्का सूचक है । बड़े २ कमोंके अनुष्ठानोंमें ब्रह्मा भी प्रभुकी एक विभूतिके समान ही होता है । इस संसारके महायन्त्रमें असंख्य गण कार्य कर रहे हैं । सबका मिलकर संगठित होना ही इस कार्यकी सफलताका कारण और प्रेरककी बुद्धिमत्ताका लक्षण है । हमारा कल्याण तभी होगा जब ज्ञानसे सुसज्जित हों और गणोंके गण मिलकर कार्य करें । अपने २ घरमें हर कोई मियां मिट्टू न बना रहे । यह कार्य कब होगा ? जब आदित्यके समान चमकने वाले, अदितिके पुत्र, अखण्ड व्रत धारी, महात्मा हमारा कल्याण करनेके लिये बद्धपरिकर होजावेंगे । अतः साधक जहां प्रभुकी विभूतियोंका मनन करे, वहां स्वयं आदित्य बननेका उच्च लक्ष्यभी अपने सम्मुख रखा करे ॥

५. विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये, वैश्वानरो वसुरग्निः
स्वस्तये। देवा अवन्तवृभवः स्वस्त यस्वस्तिनो रुद्रः पातृंहसः।

॥ ऋ० ५। ५१। १३ ॥

अर्थः—(नः) हमारे प्रति (विश्वे) सारे (देवाः)
देवता (अद्य) आज (स्वस्तये) मंगलकारी हों (वैश्वानरः)
सब नरोंमें विराजमान (वसुः) सबका बसाने वाला (अग्निः)
अग्नि (स्वस्तये) कल्याणकारी हो। (स्वस्तये) हितके लिये
(देवः) प्रकाशमान (ऋभवः) बुद्धिमान् लोग (अवन्तु) रक्षा
करें। (नः) हमें (रुद्रः) रुलाने वाला देव (अंहसः) पापसे
(स्वस्ति) शान्तिपूर्वक (पातु) बचावे।

भावः—अग्नि भगवान्की सर्पव्यापिनी, जीवनदायिनी,
निवासकारिणी विभूतिके रूपमें यहां प्रयुक्त हुआ है। समस्त
प्रकारके विभूतिमान् पदार्थ देवतारूप हैं। ऋभु उन शक्तिशाली
महात्माओंका संकेत हैं जो नित्य तत्त्वकी आराधनासे जीवन्मुक्त
होजाते हैं।

प्रजापतिर्वै पित ऋभून्मर्त्यान् सतोऽमर्त्यान् कृत्वा
तृतीयसवन आभजत ॥ ऐ० ब्रा० ६। १२ ॥

अर्थात् ऋभु प्रजापतिके पुत्र थे, जिन्हें उसने मर्त्यसे
अमर्त्य बना दिया और द्यु स्थानी देवता बनाकर यज्ञोंमें तृतीय
सवनका अधिकार दिया। साधकको चाहिये कि ऋभुके इस
स्वरूपको सामने रखता हुआ, नित्य विकास करता जावे। प्रभु
उसपर भी दयालु होंगे। परन्तु इसकेलिये पापको छोड़ना
आवश्यक है। साधकको चाहिये कि प्रभुकी रुद्र नामक विभूति

चिन्तन करे । रुद्र कौन होता है ? जो रुलाता है । पापी जिसके दण्डसे डरकर रोते हैं । उन्नतिशील, साधक पश्चात्ताप करते हुए, उसके चरणोंमें आंसु बहाकर, उसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं । पापके धोनेके लिये पश्चात्तापका उबलता हुआ पानी ही चाहिये । इस उबालके पीछे ज्ञानपूर्वक व्यवहार करते हुए, शान्ति प्राप्त होसकती है ।

६. स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति । स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्तिनो अदितेऋधि ॥ ऋ० ५ । ५१ । १४॥

अर्थ:—हे (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण* (स्वस्ति) कल्याणहो, हे (रेवति) धनयुक्त (पथ्ये) सुमार्ग (स्वस्ति) कल्याण हो । (इन्द्रः) इन्द्र (अग्निः) आग (च) और हे (अदिते) अदिति [तुम (नः) हमारे प्रति (स्वस्ति) कल्याण (ऋधि) करो ।

* यह मित्र और वरुण क्या हैं ? पूर्व टिप्पण में अश्विन् आदि शब्दोंके सम्बन्ध में जो भिन्न २ अर्थोंके विषय में कहा गया था, उसे यहां भी लगा लेना चाहिये । प्राण और अपान, प्राण और उदान, रात और दिन, द्यौ और पृथिवी, शुक्ल और कृष्णपक्ष इत्यादि अनेक जोड़ोंकी कल्पनाकी गयी है । प्रत्येक जोड़ेका एक अवयव दूसरे अवयवके साथ मिलकर भगवान्की अद्भुत रचना में एक विभूतिका प्रकाशक हो रहा है । जब द्विवचन या बहुवचन वाले शब्दोंको सम्बोधनमें रखा हो, तो भिन्न २ विभूतियोंके विभावक, प्रभुका ही उस २ गुणसे विशिष्ट होकर संकेत समझना चाहिये । उस विभूति को अपने भीतर अधिक प्रविष्ट करनेके लिये उसीका ही सम्बोधन कर लिया जाता है । लोक में इस नियमको आधारारोप नामकी लक्षणा कहते हैं । यही बात पथ्या विस्तृत मार्गके सम्बोधनके सम्बन्ध में घटा लेनी चाहिये ।

भावः—साधकको चाहिये कि मित्र और वरुणके समान अपने जीवनमें विश्राम और पुरुषार्थके चक्रको ठीक २ चलाकर कल्याणको प्राप्त हो । ऐश्वर्ययुक्त, विस्तृत मार्गपर चलकरही सुख प्राप्त हो सकता है। वह मार्ग मोक्षका मार्ग नहीं, जिसपर चलनेसे कंगलापन दूर न हो । मोक्षका अर्थही दीनता, अनीश्वरता, और दरिद्रतासे छूटकर परम ऐश्वर्य्य और स्वातंत्र्यका लाभ करना है । वैदिक धर्मका त्याग निर्धनताका पर्याय न समझना चाहिये । आर्य ब्राह्मण और संन्यासी कौड़ी पास न रखते हुए भी, सबके स्वामी समझे जाते हैं, क्योंकि उन्होंने अपने आपको (जो सबसे बड़ी पूंजी है) वशमें कर लिया है । इसलिये लोक तथा परलोक, दोनोंका मार्ग, अपने २ उद्देश्यके साधक ऐश्वर्य्यसे युक्तही होना चाहिये । उत्तरार्धमें 'इन्द्र' का शब्दभी इधरही संकेत करता है । यह प्रभुकी ऐश्वर्य्य-विभूतिका सूचक है ।

७. स्वस्तिपन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।

पुनर्ददताग्नता जानता संगमेमहि ॥

ऋक् ५।५१।१५॥

अर्थः—(सूर्याचन्द्रमसौ-इव) सूर्य और चान्दकी तरह (स्वस्ति) कल्याणयुक्त (पन्थां) मार्गके (अनु-चरेम) अनुगामी बनें । (पुनः) फिर (ददता) दानशील (अग्नता) अहिंसक (जानता) विद्वान्के साथ (संगमेमहि) संगति किया करें ।

भावः—सूर्य और चान्द प्रभुके नियमका पालन करते, कीर्त्तिकी कभी परवाह नहीं करते, अपमानसे कभी नहीं डरते हैं । नित्य नये दिखाई देते हैं और लोकके पूजा-स्थान

बने रहते हैं। हमें भी चाहिये कि सदा स्वतन्त्र रहते हुए, व्यर्थ निन्दा और स्तुतिसे बचते हुए, सदा लोक और आत्म-हितमें लगे रहें। इसका साधन सत्संग है। सत्पुरुष वे हैं, जो देते हुए कभी न घबरावें। शिष्यवर्गकी मूर्खता और त्रुटियोंके सहिष्णु होकर दूर करनेवाले हों। आत्मा, मन और शरीरके पोषक नियमोंके पालनमें लगाने वाले, परम विद्वानहों। साधक इसी प्रकारके महाजनोंके मार्गपर चलता हुआ, उन्नति कर सकता है।

८. ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता
ऋतज्ञाः । ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वास्तिभिः
सदा नः ॥ ऋक्० ७ । ३५ । १५ ।

अर्थः—(ये) जो (यज्ञियानां) पूज्य (देवानां) देवोंके (यज्ञियाः) पूज्य (मनोः) मनुष्य समाजके (यजत्राः) पूज्य (अमृताः) मृत्यु (के भयसे) रहित (ऋत-ज्ञाः) आध्यात्मिक सत्यको जानने वाले [हैं] (ते) वे (नः) हमें (अद्य) आज (उरु-गायं) विस्तृत मार्गको (रासन्तां) प्रदान करें। (यूयं) आप [सब विद्वान् लोग] (सदा) (नः) हमारी (स्वास्तिभिः) कल्याणके [उपदेशों] द्वारा (पात) रक्षा करते रहें।

भावः—मनुष्योंमें साधारण मनुष्य तथा देवता, यह दो विभाग हैं। कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जो देवताओंमें भी अपेक्षाकृत मुख्य होते हैं। हमें चाहिये कि ऐसे महात्माओंका सत्संग किया करें, जो न केवल साधारण जनताके, वरन देवताओंके भी पूज्य हैं। वे हमारी सेवादिसे प्रसन्न होकर हमें

इसी जन्ममें आत्मिक विकासके राजमार्गका निर्देश करें । हमें चाहिये कि उनके चरणोंमें बैठकर अपनी रक्षार्थ उनसे याचना किया करें । विद्या और विज्ञान भी प्रभुकी एक विभूति है । हम तत्त्व-ज्ञानियोंसे क्या प्रार्थना करते हैं, मानो, उनके और अपने अन्दर विराजमान भगवान्से ही अपनी अभिलाषाओंको प्रकट करते हैं ।

९. येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौर-
दितिरद्रि बर्हाः । उक्थशुष्मान् वृषभरान् स्वप्नसस्तां आदित्यां
अनुमदा स्वस्तये ॥ ऋ० १० । ६३ । ३ ।

अर्थः—(येभ्यः) जिनके लिये (माता) निर्माण करने वाली (द्यौः) प्रकाशसे युक्त (अद्रि-बर्हाः) मेघोंके द्वारा विस्तार वाली (अदितिः) कभी नाशको न प्राप्त होने वाली [पृथिवी या प्रभुकी शक्ति] (पयः) दूध, (पीयूषं) अमृत (पिन्वते) बहाती है, (तान्) उन (उक्थ-शुष्मान्) कीर्त्तनीय बलवाले (वृष-भरान्) धर्मके रक्षक (सु-अप्नसः) सुकर्म करनेवाले (आदित्यान्) आदित्योंके (अनु) पीछे (स्वस्तये) कल्याणार्थ (मद) आनन्द करो ।

भावः—सुकर्मी, बलशाली, धर्ममूर्त्ति महात्माओंकेलिये प्रभुकी सृष्टिमें सर्वत्र कल्याणका ही विस्तार होरहा है । वे सदा भगवान्की इच्छामें अपना हित देखकर प्रसन्न रहा करते हैं । उन्हें इस विस्तृत भूमण्डलपर सर्वत्र दूध और अमृतके स्रोत ही बहते हुए दिखाई देते हैं । वे सदा आशावान् रहते हैं, निराश कभी नहीं होते । साधकको उचित है कि ऐसे उच्च कोटिके

सज्जनोंका अनुकरण करता हुआ, आनन्द युक्त रहनेका स्वभाव बनावे । प्रभु विश्वासकी यह एक उत्तम परीक्षा है ।

१०. नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहदेवासो
अमृतत्वमानशुः । ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो
वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥ ऋक् १० । ६३ । ४ ॥

अर्थः—(नृ-चक्षसः) मनुष्योंके द्रष्टा (अनि-मिषन्तः)
आंखें बन्द न करने वाले (देवासः) विद्वान् जनोंने (अर्हणा)
योग्यताद्वारा (बृहत्) उच्च (अमृतत्वं) अमृत पदको (आनशुः)
प्राप्त किया । [वे] (ज्योतिः-रथाः) प्रकाशमें रमण करनेवाले
(अहि-मायाः) व्यापक बुद्धिवाले (अन्-आगसः) पाप-रहित
(स्वस्तये) कल्याणकेलिये (दिवः) प्रकाशके (वर्ष्माणं) उच्च
पदको (वसते) घेरते हैं ।

भावः—मनुष्योंमें कौन अमर देव बनसकते हैं ? इसका
उत्तर इस मंत्रमें दिया गया है । विस्तृत अनुभव, पुरुषार्थ,
कुशाग्रबुद्धि, पाप-शून्यता तथा ज्ञान-प्रियताको उनकी योग्यताके
रूपमें वर्णन किया गया है । इस योग्यताके आधारपर, वे
महात्मा उच्चतम, प्रकाशकी अवस्थाको प्राप्त करते हैं । यही प्रत्येक
नरनारीका लक्ष्य होना चाहिये ।

११. सम्राजो ये सुवृधोयज्ञमाययुरपरिहृता दधिरे
दिविक्षयम् । तां आविवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्यां
आदितिं स्वस्तये ॥ ऋक् १० । ६३ । ५ ॥

अर्थः—(ये) जो (सम्-राजः) भलेप्रकार चमकते
हुए, (सु-वृधः) अच्छी उन्नति करते हुए (यज्ञं) यज्ञको

(आ-ययुः) प्राप्त हुए, (अपरि-हृवृताः) कुटिलतासे रहित होकर (दिवि) प्रकाशमें (क्षयं) निवासको (दधिरे) उन्होंने धारण किया । (तान्) उन (महः) बड़े (आदित्यान्) आदित्यों और (अदितिं) उनकी माताकी (नमसा) झुककर (सुवृक्तिभिः) अच्छी २ तय्यारकी हुई प्रार्थनाओं द्वारा (स्वस्तये) मंगलके लिये (आ-विवास) अच्छी तरह पूजा करो ।

भावः—बड़ा बननेका मार्ग क्या है ? साधकको चाहिये कि ज्ञान द्वारा उन्नति करता हुआ, यज्ञरूप होनेका परिश्रम करता रहे । इसमें सफल होते हुए, सरलताको लोगोंके सामने लाये और सदा अपने समाजके अन्तर्गत बड़े चढ़े हुए यज्ञरूप व्यक्तियों तथा उनके अदीनभावोंकी पूजा करे । सज्जावोंके प्रति श्रद्धा होनेसे मनुष्य उन्हें धारण करने लग जाता है ।

१२. को वा स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो
मनुषो यतिष्ठन । को वोऽध्वरं तुविजाता अरंकरघो नः
पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥

ऋक्० १०।६३।६ ॥

अर्थः—हे (विश्वे) सारे (देवासः) देवताओ, (मनुषः) मननशील (यति) जितने [भी] (स्थन) तुमहो, (वः) तुम्हारे लिये (कः) कौन (स्तोमं) स्तोत्रको (राधति) ठीक करता है, (यं) जिसे (जुजोषथ) तुम पसन्द करते हो । हे (तुवि-जाताः) विस्तृत कीर्त्तिवालो, (कः) कौन तुम्हारे (अध्वरं) हिंसा रहित कर्मको (अरं-करत्) ठीक प्रकारसे पूरा कर सकेगा, (यः) जो (नः) हमें (अंहः) पापसे (अति) निकाल कर (पर्षत्) पार पहुँचा सकेगा, [ताकि] (स्वस्तये) सर्वत्र कल्याण हो ।

भावः—मनन शील, विद्वान् लोगोंको चाहिये कि उसी मनुष्यको पसंद करें, उसीकी सहायता करें और उसीद्वारा जगत्की रक्षाका कार्य संपादन करावें, जो लोगोंको पापसे छुड़ा सकता हो । जो स्वार्थी, दम्भी और हिंसक होगा, वह हाथ में आयी हुई शक्तिको लोगोंको सतानेमें ही लगावेगा । वह आपकी सौ स्तुति करे कभी उसकी बातोंमें मत आओ । जो स्वयं पापसे घृणा करता और दूसरोंको भी ऐसा करनेके लिये प्रवृत्त करता है, ऐसा सज्जन ही वास्तवमें लोक हितकारी समझना चाहिये । साधकको चाहिये कि अपने अन्दर यह विश्वास रखे कि अन्तमें न्याय, पुण्य और सद्भावोंकी ही विजय होनी है ।

१३. येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्म-
नसा सप्तहोतृभिः । त आदित्या अभयं शर्म यच्छत् सुगा
नः कर्त्तुं सुपथा स्वस्तये ॥ ऋ० १० । ६३ । ७ ॥

अर्थः—(येभ्यः) जिनके प्रति (समिद्ध-अग्निः) अग्निको प्रज्वलित करके (मनुः) मननशील, मनुष्य (मनसा) हृदयसे (सप्तहोतृभिः) सात होताओं द्वारा (प्रथमां) सबसे बड़ी चढ़ी हुई (होत्रां) पूजाको (आ-येजे) करता चला आया है । हे (आदित्याः) अखण्डव्रतधारियो, (ते) वे [तुम] (अभयं) भय रहित (शर्म) शरण को (यच्छत्) प्रदान करो, (स्वस्तये) कल्याणके लिये (नः) हमारे (सामने) (सु-पथा) अच्छे मार्गोंको (सु-गा) चलनेमें आसान (कर्त्तुं) बनाओ ।

भावः—अग्नि प्रज्वलित करनेका तात्पर्य यह है कि बड़े-२ यज्ञ रचाकर सत्कारके योग्य विद्वानोंको वहां सम्मिलित करके

उनकी पूजाकी जावे। अग्नि प्रकाशका संकेत है, इस लिये 'समि-
द्धाग्निः' उसे भी कहते हैं जो ज्ञानके प्रकाशमें काम करे। केवल
अन्धी श्रद्धा द्वारा ही पीछे न लग जाता हो। बड़े २ यज्ञोंमें
अनेक पुरोहित और होता होते थे। परन्तु व्यक्तिगत पूजाके
प्रकरणमें सप्त होतासे दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिकाएं और
एक मुख, इन सात गोलकोंका ग्रहण अभीष्ट है। यह शरीरके
शक्तियोंके सूचक हैं। शरीर और मनकी शक्तियों द्वारा सच्चे,
महात्माओंकी पूजा करनी चाहिये। जहां पूज्योंका मान होताहै,
वहीं लोगोंको पुण्यका विस्तृत मार्ग दिखाई देता रहता है। जब
ऐसे आदित्य जातियोंका हाथ पकड़ते हैं, तो लोग निर्भय होकर
उन्नति करते जाते हैं। सबका कर्त्तव्य है कि इस प्रकारके ही
महापुरुषोंकी शरण पकड़ें।

१४. य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्ज-
गतश्च मन्तवः। ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्षद्या देवासः
पिपृता स्वस्तये ॥ ऋ० १०। ६३। ८ ॥

अर्थः—(ये) जो (प्रचेतसः) प्रकृष्ट ज्ञान वाले (मन्तवः)
मनन शील [विद्वान्] (स्थातुः) ठहरे हुए (च) और (जगतः)
चलते हुए (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भुवनस्य) संसारके (ईशिरे)
स्वामी हैं, (देवासः) हे विद्वानो, (ते) वे [तुम] (न) हमें
(कृतात्) किये हुए (अकृतात्) न किये हुए (एनसः) पापसे
(परि) हटाकर (अद्य) अब (स्वस्तये) सुख-पूर्वक (पिपृता)
बचालो ॥

•भावः—विज्ञान-धनियोंका ही सर्वत्र साम्राज्य होता है।

यह आवश्यक नहीं कि सारे विद्वान् परोपकारभी करते हों । वेदका यह उपदेश है कि वास्तव विद्वानोंको चाहिये कि लोगों को पापसे हटाकर अपनी योग्यताका परिचय दें । पाप दो प्रकारका है, (१) कर्ममें आया हुआ (२) मनमें ही वर्तमान । दोनों प्रकारके दुर्व्यसनों और पापके बीजोंको विद्वानोंके सत्संगसे भस्म कर डालना चाहिये । जो त्रुटि होगई, उसकी पूर्ति करनी चाहिये और आगेको पापकी प्रवृत्तिको मूलसे ही काट डालना चाहिये ।

१५. भरेष्विद्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं
जनम् । अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः
स्वस्तये ॥ ऋ० १० । ६३ । ९ ॥

अर्थः—(भरेषु) संकटोंमें (सु-हवं) आसानीसे पुकार सुननेवाले (अंहः-मुचं) पापसे छुड़ानेवाले (सुकृतं) शुभ कर्मोंको करनेवाले (दैव्यं) विद्वानोंके सहायक (जनं) सबके उत्पन्न करने वाले (इन्द्रं) इन्द्रको (हवामहे) हमबुलाते हैं । (सातये) प्राप्तिके लिये [और] (स्वस्तये) कल्याणके लिये (अग्निं) अग्नि, (मित्रं) मित्र (वरुणं) वरुण (भगं) भग (द्यावा-पृथिवी) द्यु-लोक और पृथिवी लोक (मरुतः) मरुतोंको [बुलाते हैं] ।

भावः—इन्द्रसे यहां परमात्माकी ऐश्वर्य्यवर्धिनी, सर्व-व्यापिनी शक्तिका ग्रहण करना है । अग्नि, आदि भी उसी भिन्न-शक्तियोंके संकेत हैं । इनको बुलाना इनका अपने कार्यमें सह-योग कराना है । यहाँतब होसकता है, जब हम विद्युत, अग्नि,

सूर्य आदिके ज्ञानसे परिचित हों और उनके बलोंको अपने और दूसरेके हितकेलिये उपयोग करें । वास्तवमें यह प्रभुकी विभूतियां हैं । इन्हें बुलाना क्या है, उसीका विविध प्रकारसे स्वरूप चिन्तन करना है । इतने नाना प्रकारके बलोंसे युक्त प्रभु हमें संकटमें सहारा देवे, यह साधककी भावना होनी चाहिये । जहां २ शक्तियोंका सम्बोधन या आह्वान किया है, वहां प्रभुकी दयासे उनके समीपवर्त्ती सायुज्यके भावसे ही समझना चाहिये ।

१६. सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम् । दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये ॥ ऋ० १० । ६३ । १० ॥

अर्थ:—(सुत्रामाणं) अच्छी प्रकार रक्षाके साधनोंसे युक्त (पृथिवीं) विस्तार वाली (द्यां) प्रकाशवाली (अन्-प-हसं) हिंसारहित (सु-शर्माणं) अच्छे आश्रयसे युक्त (अदितिं) अटूट (सु-प्र-नीतिं) अच्छी चालवाली (सु-अरित्रां) अच्छे चपुओंवाली (अनागसं) दोषरहित (अस्रवन्तीं) छिद्ररहित (दैवीं) देव-सम्बन्धी (नावं) नौकापर (स्वस्तये) शान्तिके लिये (आ-रुहेम) चढ़ें ।

भाव:—क्या मनोहर उपदेश है । साधक शान्ति और कल्याण चाहता है । भवसागर ठाठें मार रहा है । पेसी वैसी, टूटी फूटी नौका काम न देगी । दिव्य, यज्ञमय, परोपकारमय, ज्ञानमय, भक्तिमय जीवनको ही नौका बनाओ और सवार हो जाओ । सब छिद्रोंको पूर दो और दोषोंको दूर करो । संकोच छोड़ दो और प्रकाशको धारण करो । अच्छे कर्म ही इस नौकाकी बलियां और चपु हैं ।

१७. विश्वे यजत्रा अधिबोचतोतये त्रायध्वं नो
दुरेवाया अभिहुतः । सत्यया वो देवहूत्यया हुवेम शृण्वतो
देवा अवसे स्वस्तये ॥ ऋक्० १० । ६३ । ११ ॥

अर्थः—हे (विश्वे) सारे (यजत्राः) पूज्य विद्वान् लोगो,
(ऊतये) रक्षार्थ (अधि-बोचत) निश्चयात्मकरूपसे निर्देश करो,
(नः) हमें (अभिहुतः) नाश करने वाली (दुः-इवायाः)
दुर्गतिसे (त्रायध्वं) बचाओ (स्वस्तये) सुखके लिये (अवसे)
रक्षाके लिये, हे (देवाः) देवताओ, (वः) तुम (शृण्वतः)
पुकार सुनने वालोंको (सत्यया) सच्ची (देवहूत्या) विद्वानोंके
सामनेकी जाने योग्य प्रार्थना द्वारा (हुवेम) हम बुलाते रहें ।

भावः—पापके मार्गपर चलनेसे नाशही नाश होता है ।
जातिके सच्चे नेताओंका कर्त्तव्य है कि लोगोंको नेकीका उपदेश
करते रहें । परन्तु जनताका भी कर्त्तव्य है कि सच्चे नेताओंको
भूटे अभिनन्दनपत्रोंके ही फंदेमें न फंसाती रहे, वरन उनके
कहेपर आचरण करे और सुख पावे । साधकको यही आदर्श
अपने सामने रखना चाहिये ।

१८. अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारार्तिं दुर्विदत्रा-
मघायतः । आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरुणः शर्म यच्छता
स्वस्तये ॥ १० । ६३ । १२

अर्थः—हे (देवाः) विद्वान् लोगो, (अमीवां) रोग
(विश्वां) सब प्रकारकी (अनाहुतिं) कंजूसी (अपारार्तिं) शत्रुता
(अघायतः) पाप चाहने वालेकी (दुः-विदत्रां) दुर्मति (द्वेषः)

द्वेषको (अस्मत) हमसे (आरे) दूर (अप-युयोतन) भगादो ।
(नः) हमें (स्वस्तये) सुखकेलिये (उरु) विशाल (शर्म)
शरण (यच्छत) प्रदान करो ।

भावः—जिस व्यक्तिके और समाजके दुर्गुण अशान्तिके कारण हैं, विद्वान् उन्हें दूर करके शान्ति और सुखका सर्वत्र विस्तार करें । आर्य-जीवन उदारता, नीरोगता सुमति, निर्वैरता और श्रुताका नाम है । साधकको चाहिये कि उन्हें धारण करनेका प्रयत्न करता रहे । भौतिक देवता भी यही उपदेश कर रहे हैं । हमें उचित है कि प्रभुके संकेतोंको समझते हुए सुख प्राप्तिके मार्गपर सदा चलते रहें ।

१९. अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते
धर्मणस्परि । यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि
दुरिता स्वस्तये ॥

ऋक्० १० । ६३ । १३ ॥

अर्थः—हे (आदित्यासः) अखण्डव्रतके धनी विद्वानो,
(यं) जिसे (विश्वानि) सकल (दुरितानि) दुर्गुणों, दुष्कर्मों
और दुर्भावोंसे (अति) उठा कर (स्वस्तये) सुखकेलिये
(सु-नीतिभिः) अच्छी नीतियोंसे (नयथा) तुम ले चलते हो,
(स) वह (मर्तः) मनुष्य (विश्वः) सम्पूर्ण (अरिष्टः) पीड़ा
रहित होकर (एधते) बढ़ता है । (धर्मणः) धर्म [के कार्यको
करनेके] (परि) पीछे (प्रजाभिः) पुत्र, पशु आदि द्वारा
(जायते) प्रसिद्ध होता है ।

भावः—यह ठीकहै कि सुख विद्वानोंके पीछे चलनेसे ही
मिलेगा । वे सुमार्गोंपर चलाते हुए, हमें कष्टोंसे बचा सकते

हैं, परन्तु सम्पूर्ण उन्नतिके लिये आवश्यक है कि हम उनके कथनानुसार धर्माचरणमें तत्पर हो जावें । तभी सच्चा और पूरा कल्याण, पेश्वर्य, धन, धान्य, प्राप्त हो सकता है । सबको अपनी २ कमाईका ही फल मिलता है ।

२०. यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो
हि ते धने । प्रातर्यावाणं रथमिन्द्रसानसिमरिष्यन्तमारुहेमा
स्वस्तये ॥

ऋक् ० १० । ६३ । १४ ॥

अर्थ:—हे (देवासः) चमकते हुए (मरुतः) दिव्य सम्पत्तिके धनियो, (वाजसातौ) अन्नादिके लाभ (शूरसाता) बलादिके लाभ (हिते) हितकारी (धने) धनके लाभके निमित्त (यं) जिस (इन्द्रसानसिं) प्रभु-प्राप्तिमें साधन (प्रातः-यावाणं) प्रातःकाल चलने वाले (रथं) रथकी (अवथ) आप रक्षा करते हो [उस] (अरिष्यन्तं) हानि रहित [रथ पर] (स्वस्तये) कल्याणके लिये (आ-रुहेम) हम चढ़ें ।

भाव:—ब्राह्मणग्रन्थोंमें मरुतोंको देवताओंके वैश्य बतलाया गया है । इन्द्रकी विभूतिके वे भण्डार हैं । भौतिक जगत्में वे रश्मियों, प्राणों और जलोंके रूपमें और मानवजगत्में दिव्यधन वाले, विद्वानोंके रूपमें पाये जाते हैं । रथसे शरीरका ग्रहण करना है । मरुत हमारे शरीरकी सर्व प्रकारसे रक्षा करते हुए, हमारे हाथमें कौनसी सम्पत्ति नहीं देते ? परन्तु साधकको चाहिये कि अन्नादिको ही परम लक्ष्य न बनाये रखे । मरुतोंके राजा, इन्द्र अर्थात् परमात्म-तत्त्व तक पहुँचनेका विचार अपने सामने रखे । नीरोग शरीररूपी रथको ब्राह्ममुहूर्त्तमें जोड़कर सन्ध्योपासनामें लग जाया करे । यही उसका परमोद्देश्य है ।

२१. स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने
 सर्वति । स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो
 दधातन । ऋक्० १० । ६३ १५ ।

अर्थः—हे (मरुतः) मरुतो, (नः) हमारे लिये (पथ्यासु)
 राजमार्गोंपर (धन्वसु) मरुस्थलोंमें (स्वः-वति) प्रकाशयुक्त
 (वृजने) युद्धमें (पुत्रकृथेषु) पुत्रोत्पादक (योनिषु) स्त्रियोंमें
 (राये) सर्व प्रकारके ऐश्वर्यकेलिये (स्वस्ति) कल्याण
 (दधातन) धारण करो ।

भावः—मरुत इस प्रकारके विद्वानोंको कहते हैं, जो
 बोलते थोड़ा, पर काम अधिक करते हैं । उन्हींकी सहायतासे
 सर्वत्र कल्याण होता है । नगरों और जंगलोंमें समान रूपसे
 उनकी शक्ति चमत्कार दिखाती है । जिस जातिकी स्त्रियोंमें
 अशान्तिहोती है, उसमें उच्च आदर्शवाली सन्तान नहीं होती ।
 माताके संस्कार बड़े प्रबल होते हैं । आर्य धर्म युद्धका उपदेश
 करता है । पर वह युद्ध प्रकाशसे युक्तहो । न्याय, धर्म, कर्त्तव्य-
 पालनही प्रकाशके पुंज हैं । जहां अत्याचारीको ठीक करनेके
 लिये धर्मयुद्ध लड़ा जाता है, वहीं प्रकाश होता है । प्रभु अपनी
 सारी विभूतियोंको वहां सहायतार्थ नियुक्त कर देते हैं ।

२२. स्वस्तिरिद्धिं प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या
 वाममेति । सा नो अमा सो अरणे निपातु स्वावेशा भवतु
 देवगोपा । ऋक्० १० । ६३ । १६ ॥

अर्थः—(या) जो (स्वस्तिः) कल्याण (इत-हि) निश्चय
 करके (रेक्णः-वती) ऐश्वर्यसे युक्त (श्रेष्ठा) सर्वोत्तम (प्र-पथे)

उत्कृष्ट मार्गपर (वामं) प्राप्त करने योग्य अच्छे भावों, कर्मों और गुणोंको (पति) प्राप्त करता है, (सा) वह (नः) हमारी (अमा) घरपर (सा-उ) और वही (अरणे) विदेशमें (नि-पातु) रक्षा करे । (देवगोपा) विद्वानों से रक्षित होकर (सु-आवेशा) अच्छे प्रकार [हममें] निवास करनेवाला (भवतु) बने ।

भावः—आर्य साधक किस कल्याणको अपना उद्देश्य बनावे ? कौनसी वह 'स्वस्ति' है, जो उसका लक्ष्य बने ? जो सब कल्याणोंसे ऊंचा, सांसारिक और पारलौकिक समृद्धिका कारण, उन्नतिके राजमार्गपर चलाने वाला, देश और विदेशमें रक्षाकरने वाला हो और विद्वान् जिसको पसन्द करें । अज्ञानियोंका आदर्श हमारा आदर्श न हो । तुच्छ बातोंमें ही हम बहुमूल्य जीवन नष्ट करते फिरें । दूर देखो और ऊंचा देखो ।

२३. इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु
श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमध्वन्या इन्द्राय भागंप्रजावती-
रनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा
अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥

यजु० १।१।

अर्थ—[साधक अपने जीवनके लक्ष्यके विषयमें संकल्प करता हुआ, मानो, जीवनको ही प्रत्यक्षरूपसे संबोधन करता हुआ कहता है] (त्वा) तुम्हे (इषे) प्रेरणाके लिये, (त्वा) तुम्हे (ऊर्जे) पराक्रमके लिये [धारण करूं], [अपनी इन्द्रिय-शक्तियोंको

प्रत्यक्ष रूपसे संबोधन करके कहता है] तुम (वायवः) गतिशील (स्थ) हो, (वः) तुम्हें (देवः) प्रकाशस्वरूप (सविता) प्रेरक पिता (श्रेष्ठतमाय) अत्युत्तम, यज्ञरूप (कर्मणे) कर्मके लिये (प्र-अर्पयतु) प्रेरित करे । हे (अध्व्याः) अहिंसाके योग्य [शक्तियो], (प्रजावतीः) प्रजाओंसे युक्त होकर (अन्न-अमीवाः) उदरादिके रोग तथा (अ-यक्ष्माः) तपेदिक आदिसे रहित होकर (इन्द्राय) [मुष्क] पेश्वर्यसे युक्तकेलिये (भागं) सेवन करने योग्य [बल] को (आ-प्यायध्वं) बढ़ाओ, (वः) तुम्हारे ऊपर (स्तेनः) चोर या (अघशंसः) पापकी कामना करनेवाला (मा) मत (ईशत) राज्य करने पावे, (अस्मिन्) इस [मुष्क] [गो-पतौ] इन्द्रियोंके पालकमें (बह्वीः) बढ़ती हुई (ध्रुवाः) निश्चल होकर (स्यात्) ठहरो, [प्रभुसे प्रार्थना करता है, हे भगवन्, मुष्क] (यजमानस्य) यज्ञशील [साधक] के [इन्द्रियरूपी] (पशून्) पशुओंकी (पाहि) रक्षा करो ।

भावः—मनुष्य जीवनका लक्ष्य क्या है ? वेद उपदेश करता है कि हे मनुष्यो, अपने अन्दर प्रेरणा और पराक्रमको बढ़ाओ । प्रेरणा, पुरुषार्थ, हिलने जुलनेका नाम है । अन्नादि भोज्य पदार्थ खाकर पुष्टि होती है । पुष्ट होकर पड़े २ मत सड़ो । पुरुषार्थ करो । परन्तु इस पुष्टिका रस पराक्रम है । अच्छे वीरताके कार्योंमें लगा हुआ पुरुषार्थही प्रशंसनीय होता है । पराक्रम रस कैसे पैदाहो ? दूसरे वाक्यमें अपनी इन्द्रियोंको वायुकी भान्ति गति शील बनानेका उपदेश है । ठीक २ उपयोग और व्यायामसे इनकी शुद्धि करते रहो । और इन नित्य विचरणशील इन्द्रियोंका साध्य क्याहो ? श्रेष्ठतम कर्म । ब्राह्मणग्रन्थोंमें यज्ञ

अर्थात् दान, पूजा और संगति करनाही श्रेष्ठतम कर्म बताया है । इसलिये, हे साधक, अपनी शक्तियोंको बढ़ाओ और यज्ञमें लगाओ । जहां तक बने, इन्हें परमात्माकी अमानत समझकर नीरोग और प्रजा अर्थात् विस्तारसे युक्त बनाओ । यह अग्न्या अर्थात् गौओंके समान रक्षा करने योग्य हैं । कारण यह है कि यदि यह मर गयीं, तो जीवात्माके लिये सेवनीय आनन्द, ऐश्वर्य, भक्ति आदिका भी होना कठिन होजावेगा । इसलिये, किसी चोरकी भान्ति अन्दर घुस आने वाले दुर्भाव या पापके विचार या संगसे इन्हें दूषित न होने दो । आत्माको इन गौओंद्वारा स्थिर सहायता मिलती रहनी चाहिये । एक बात और, जहां यज्ञ शक्तिका लक्ष्य है, वहां शक्तिकी उत्पत्तिमें निमित्त भी है । इसलिये अन्तमें यज्ञ-शीलता द्वारा इन शक्तिरूपी पशुओंकी रक्षा करनेका निर्देश किया गया है । यह जीवन-सिद्धिका वैदिक मार्ग है * ।

* यह मन्त्र वास्तव में आठ भिन्न वाक्यों और भावोंका समुच्चय है । इसी लिये प्रत्येकका अलग संकेत बनाकर व्याख्या की गयी है । कर्मकाण्डके ग्रन्थमें इन वाक्योंको गो-पालन पर चरितार्थ किया गया है । पलाशकी शाखाको तोड़ना, बछड़ोंका बाहिर हांकना, गौओंका बाहिर जाना, इन्द्रके लिये दधि आदि पैदा करनेकेलिये नीरोग होना और गो-धनका बढ़ते रहना इत्यादि संकेतोंका ग्रहण किया गया है । सायणाचार्यने इन ग्रन्थोंका आश्रय लेकर इन्हीं अर्थोंको लगाया है । परन्तु यज्ञ केवल पारिभाषिक ही नहीं होता । सारा जीवन ही यज्ञ है और गोशब्द इन्द्रियोंके अर्थमें पुराने ऋषियोंने प्रयुक्त कियाही है (देखो, शत० ५।४।३।१०॥) । जीवनयज्ञमें सब यज्ञोंके अन्तर्गत होजानेसे उसी प्रक्रियामें अर्थ किया गया है ।

२४. आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो
अपरीतास उद्भिदः । देवा नो सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो
रक्षितारो दिवे दिवे ॥ यजु० २५ । १४ ॥

अर्थः—(भद्राः) सेवन करने योग्य (अदब्धासः) कुल-
रहित (अपरि-इतासः) आक्रान्त न हुए २ (उद्भिदः) ऊपर
उठने वाले (क्रतवः) विचार और कर्म (विश्वतः) सब ओरसे
(नः) हमें (आ-यन्तु) प्राप्त हों, (यथा) ताकि (सदं-इत्)
सदा ही (अप्रायुवः) न चूकने वाले (रक्षितारः) रक्षक (देवाः)
विद्वान् (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (नः) हमारी (वृधे) वृद्धिके
[निमित्त] (असन्) बनते रहें ।

भावः—साधु, महात्मा आकर उपदेश करेंगे । परन्तु
यदि चाहो कि उनका तुम्हारे साथ प्रेमहो और सदा तुम्हारी
सहायता करें, तो हे साधक, भद्र और उन्नति-कारक विचारों
और कर्मोंके मित्र बनो । तुम्हारे जीवनमें कुलका अंश न हो ।
तुम्हारे पुरुषार्थको दूसरे दबा न सकें । और जब कभी आसुरी
प्रवृत्ति उठ भी पड़े, तबभी भद्र कामनाएँ, मानो पर्देको फाड़कर
ऊपर उठकर तुम्हारे बचावके लिये प्रकट होजावें ।

२५. देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिर-
भि नो निवर्त्तताम् । देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं, देवा
न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥ यजु० २५ । १५ ॥

अर्थः—(ऋजूयतां) सरलताको चाहने वाले (देवानां)
विद्वानोंकी (भद्रा) कल्याण करनेवाली (सु-मतिः) अच्छी
वृद्धि [और उनकी] (रातिः) दान-वृत्ति (नः) हमारी

(अग्नि) और (नि-वर्त्ततां) भले प्रकार वर्त्तमान हो । (वयं) हम (देवानां) विद्वानोंके साथ (सख्यं) मित्रताको (उप-सेदिम) प्राप्त हों । (देवाः) वे विद्वान् (नः) हमारी (आयुः) आयुको (जीवसे) जीनेकेलिये (प्र-तिरन्तु) बढ़ावें ।

भावः—साधकको चाहिये कि गुणी लोगोंके साथ मिल कर रहना सीखे । वे सरल जीवनको चाहते हैं । दम्भ, कपटको छोड़कर उनसे मैत्री करे । भौतिक देवता भी इसी प्रकार सरल-गामी अर्थात् उनके नियमानुसार चलने वालेके मित्र बन जाते हैं । इस मैत्रीका यह परिणाम होता है कि मनुष्यकी आयु बढ़ जाती है । वह अब जीवन और मृत्युके मध्यमें लटकता नहीं, वरन् पूर्ण पुरुषार्थ करता हुआ परोपकारमें लगा रहता है ।

२६. तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे
हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः
स्वस्तये ॥ यजु० २५ । १८ ।

अर्थः—(वयं) हम (तं) उस (जगतः) चर (तस्थुषः) अचर [ब्रह्माण्ड] के (पतिं) स्वामी (धियं-जिन्वं) बुद्धिको बढ़ाने वाले (ईशानं) जगदीश्वरको (हूमहे) बुलाते हैं [उसकी पूजा करते हैं], (यथा) जिससे (पूषा) पुष्टिकर्त्ता (रक्षिता) रक्षक (पायुः) पालक (अदब्धः) अविनाशी (वेदसां) ज्ञान और धनकी (वृधे) वृद्धिके लिये (असत) [सहायक] बना रहे ।

भावः—भिन्न २ विभूतियां उस परम तत्त्वके प्रकाश हैं । वास्तवमें वह एक अविनाशी देवही चराचर विश्वका कर्त्ता,

धर्त्ता और संहर्त्ता है । साधकको चाहिये कि आर्य धर्मका आश्रय लेकर, उस महादेवके स्थानपर किसी अन्य शक्तिके सामने सिर न झुकावे । हाँ, प्रभुकी शक्ति समझकर, पूरा सहयोग देवे और लेवे । प्रभुसे भी सदा बुद्धिकी वृद्धि और अदीनताके लिये ही प्रार्थना करता रहे । परतंत्रता पाप है ।

२७. स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्वेवेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

यजु० २५। १६।

अर्थ:—(नः) हमारे लिये (वृद्ध-श्रवाः) प्रचुरकीर्ति वाला, (इन्द्रः) इन्द्र (विश्व-वेदाः) सकल धन और ज्ञानका स्वामी (पूषा) पुष्टिकारक (अरिष्ट-नेमिः) अविकल गतिवाला (तार्क्ष्यः) अति वेगवान् (बृहस्पतिः) बड़े से बड़े लोक, लोकान्तरोंका आधार (स्वस्ति) सुखको (दधातु) धारण करे ।

भाव:—इन्द्र ऐश्वर्य-विभूतिका, पूषा पुष्टि-विभूति और बृहस्पति विज्ञान-विभूति तथा विश्व-पालनकी शक्तिके संकेत हैं । लोक में ये विद्युत्, मेघ, ब्रह्मा आदिके वाचक होते हुए भी पूर्वोक्त प्रकारसे अपने २ वाच्यकी पराकाष्ठा अर्थात् परब्रह्मके ही बोधक हैं । तार्क्ष्यका अर्थ है, वेगवान् और लोकमें गरुड़ और घोड़ा समझा जाता है । सच पूछो, तो वे भी वेग-विभूतिके ही प्रदर्शक हैं । अतः यह शब्दभी प्रार्थनादिमें मुख्यरूपसे सबसे अधिक वेगवाले, प्रभुका ही बोधक है । साधक प्रभुके इन गुणोंका चिन्तन करता हुआ, सुखका पात्र बने ।

२८. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभि-
 र्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं
 यदायुः ॥ यजु० २५ । २१ ॥

अर्थः—हे (देवाः) विद्वानो (यजत्राः) पूजनीय सज्जनो,
 (कर्णेभिः) कानों द्वारा (भद्रं) कल्याणकी बातें (शृणुयाम)
 सुनें । (अक्षभिः) आंखों द्वारा (भद्रं) कल्याणके दृश्य (पश्येम)
 देखें । (स्थिरैः) स्थिर (अङ्गैः) अंगों (तनूभिः) शरीरोंद्वारा
 (तुष्टुवाꣳसः) भक्ति करते हुए (यत्) जो (देव-हितं) विद्वानों
 द्वारा धारणकी जाती है, [उस] (आयुः) अवस्थाको
 (वि-अशेमहि) प्राप्त हों ।

भावः—गुणिजनोंके सत्संगसे सारे शरीरको पवित्र और
 दृढ़ बनाकर पूर्ण आयु भोगने और प्रभुकी महिमाका विस्तार
 करनेका संकल्प करें । कर्णादि द्वारोंको निन्दादिसे दूषित न
 होने दें । शरीर दृढ़, मन शुद्ध, आत्मा प्रभु चरणोंमें सुका हुआ,
 यही तो मनुष्यका परम लक्ष्य होना चाहिये ।

२९. अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि
 होता सत्सि बर्हिषि ॥ साम० १ । १ । १ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप प्रभो, (वीतये) ज्ञानकी
 प्राप्तिकेलिये (हव्यदातये) अन्नादि पदार्थोंके दानकेलिये
 (गृणानः) उपदेश करते हुए (आ-या-हि) आइए । (होता)
 शुभ गुणोंका दाता बनकर (बर्हिषि) [यज्ञादि के] विस्तारमें
 (नि-सत्सि) स्थापित होते हो ।

भावः—परमात्माके प्रकाशसे ही ज्ञानकी प्रेरणा

होती है । सारे ब्रह्माण्डका पालन करता हुआ, वही दरिद्रोंकी पालना करनेका उपदेश करता है । उसकी विभूतियां, अग्नि आदि सबका पालन, पोषण करती हुई, मानो, साधकको पुण्यका मार्ग दिखाती हैं । यज्ञका विस्तार क्या है ? परोपकारका करना ही यज्ञका तात्पर्य है । प्रभुसे बढ़कर कौन दानी है ? अतः वही प्रथम होता है । साधकको परोपकारका भाव भगवान्से ही सीखना होगा ।

३०. त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः । देवेभिर्मानुषे जने ॥ साम० १।१।२ ॥

अर्थ:—हे (अग्ने) प्रकाश-पुञ्ज, (देवेभिः) देवताओंके साथ (मानुषे) मानव (जने) समाजमें (त्व) तुम (यज्ञानां) यज्ञोंके (होता) [तथा] (विश्वेषां) सबके (हितः) हितकारी मित्र हो ।

भाव:—अग्नि दूसरे देवताओंके साथ मानव जातिके सामने पूर्ण आदर्श उपस्थित करती है । केवल अग्निका ध्यान जड़ पूजाकी ओर भी घसीट कर ले जा सकता है । परन्तु सूर्य विद्युत पृथिवी, और जलको साथ२ मिलाकर देखें और विचारें तो ये सब परस्पर जुड़कर एक पूर्णताकी ओर ध्यान आकर्षित करते हैं । वह पूर्णता प्रभुका स्वरूप है और यह उसकी विभूतियां हैं । इस लिये साधकको इसी प्रकार समझकर, सब देवताओंको परोपकारादि शुभ भावनाओंके प्रेरक तथा अपना मित्र जानना चाहिये । उन सबसे पूरा लाभ उठाये और सब शक्तियोंके केन्द्रकी ओर चित्तकी वृत्तिको लगानेका यत्न करे ।

३१. ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ अ० १।१।१॥

अर्थः—(ये) जो (विश्वा) सारे (रूपाणि) रूपोंको (बिभ्रतः) धारण करते हुए (त्रि-सप्ताः) तीन गुना सात अर्थात् इक्कीस (परि-यन्ति) सर्वत्र परिपूर्ण हो रहे हैं। (वाचस्पतिः) विज्ञानेश्वर (तेषां) उनके (तन्वः) विस्तृत स्वरूपोंके (बला) बलोंको (अद्य) अब (मे) मेरे [अन्दर] (दधातु) धारण करे।

भावः—श्रोत्र, नेत्र, प्राण, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां बाहिरसे सब संस्कार लाती हैं कुछ मानसिक संकल्प विकल्परूप भाव अन्दरही उठते हैं। कुछ निश्चय रूप भाव बुद्धिद्वारा पैदा होते हैं। इस प्रकार इन सात ग्रहों अर्थात् ग्रहणके साधनों द्वारा हमें बाह्य और आन्तरिक विश्वका बोध हो रहा है। पर यावन्मात्र जगत् है, वह सत्त्व, रजस् और तमस् नामसे प्रसिद्ध तीन गुणोंका ही नाच है। अर्थात् इन सात ग्रहों द्वारा तीन प्रकारके संसारको हम ग्रहण कर रहे हैं। दूसरे शब्दोंमें हमारेलिये इक्कीस विभागोंमें संसार बट रहा है। परन्तु हमें इन इक्कीसके अन्दर वर्त्तमान बलका पूरा २ अनुभव नहीं और इसलिये हम उसका उपयोग भी नहीं कर सकते। साधकको चाहिये कि विज्ञान और प्रभु-प्रेमको जीवनका सहारा बनाकर, इन नाना प्रकारके बलोंको धारण करनेका प्रयत्न करे। इनका धारण करना क्या है? मानो, प्रकृतिमात्रको धारण करना है। इतनी शक्ति महाविभूति है और यही मानुष-जीवन सिद्धिका चिन्ह है। किसीसे घृणा मत करो। सहानुभूति करते हुए, उससे उसके साररूप बलका ग्रहण करते रहो।

चतुर्थ प्रकरण

शान्तिप्रकरण व्याख्या ।

—५२१—

परिचय—इस प्रकरणमें दिये हुए मन्त्रोंके अन्दर विशेष-रूपसे शान्तिके उद्गावक संकल्प पाये जाते हैं । संकल्पकी महिमा जितनी करो, उतनीही थोड़ी है । शान्तिका अर्थ पुरुषार्थ-हीनता नहीं, जैसे कि मूर्ख लोग समझते हैं । शान्तिका तत्पर्य समता (Harmony) है । पूर्व प्रकरणके अन्तिम मंत्रके अनुसार, हमारे चारों ओर बलकी नदियां बह रही हैं । हम अपनी मूर्खताके कारण उनके किनारे पर खड़े न नहाते हैं और न ही प्यास बुझाते हैं । सच्चा साधक वह है, जो अपने आपको विशाल और उदार बनाकर, सबको अपने अन्दर घेरनेका आदर्श बनाता है । उसे यह निश्चय रखना चाहिये कि प्रभुकी रचनामें प्रत्येक सत्ता उसकी सहायतार्थ हाथ पसारे खड़ी है । प्रतीक्षा केवल इस बातकी है कि कब वह आंखें खोलता है और उस हाथको पकड़ता है । साधक इन मन्त्रों द्वारा अपने आपको इन सत्ताओंके समाजका सदस्य, इनका अंग और साथ समझनेका संकल्प पैदा करता रहे । यही एकतानता, एकसूत्रता, सायुज्य, सम्पत्ति आदि अनेक नामों द्वारा सच्ची शान्तिकाही वर्णन समझो । इसी शान्तिका उत्पन्न करना आने वाले मन्त्रोंका ध्येय है । केवल पाठसे सन्तुष्ट न रहकर, उपर्युक्त प्रकारसे मनन करने से, यह निश्चय है कि पूर्ण फलसे झोली भर जावेगी ।

१. शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा
रातहव्या । शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः शन्न इन्द्रापू-
षणा वाजसातौ ॥ ऋ० ७ । ३५ । १॥

अर्थः—(इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (अवोभिः) रक्षाओं
द्वारा (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी हों, (इन्द्रावरुणा)
इन्द्र और वरुण (रात-हव्या) जो ग्रहण-योग पदार्थोंके दाता
हैं, (शं, नः) हमारे लिये कल्याण करें । (इन्द्रासोमा) इन्द्र
और सोम (सु-विताय) अच्छे जीवनके लिये (नः) हमें (शं)
व्यसनोंको दवानेकी शक्ति, (योः) अच्छे गुणोंसे युक्त होनेकी
रुचि [दान करें] (वाज-सातौ) बलके प्रकाशरूप [संग्रामादि]
में (इन्द्रापूषणा) इन्द्र और पूषा (नः) हमें (शं) सुख दें ।

भावः—इन्द्रसे परमात्माके ऐश्वर्यके संकेत, विश्वव्यापक
विद्युत्का ग्रहण करना है । अग्नि प्रकाशका, वरुण वरणयिता
और मनोहरताका, सोम प्रेरणा और प्रसूतिका और पूषा पुष्टिका
संकेत है । भौतिक जगत्में यही विभूतियां अग्नि, जल, ओष-
धियों, चन्द्रमा, मेघ आदिके रूप में वर्तमान होकर हमारा
कल्याण कर रही हैं । साधकको चाहिये कि सांसारिक लाभके
लिये इन तत्त्वोंके स्वरूपका ज्ञान लाभ करे और आध्यात्मिक
कल्याणके लिये, इन सब देवताओंमें प्रभुकी सत्ताको समझे
और यह अनुभव करनेका अभ्यास करे कि यह सब प्रभुके
नियमानुसार चलते हुए प्राणिमात्रका कल्याण कर रहे हैं । यदि
हमें दुःख होता है, तो अपनी बे-समझीसे होता है । आग यह
कब कहती है कि मेरे अन्दर हाथ डालो और जला लो । सच्ची

शान्तिकी प्राप्ति दो भागोंमें विभक्त है । दुर्भावोंका दबाना और श्रेष्ठ भावोंका धारण करना । दोनों कार्य करनेसे अग्न्यादि देवता कल्याण करते हैं । सांसारिक और आध्यात्मिक साधकोंको अपने २ लक्ष्यानुसार लाभ होता है ।

२. शन्नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शन्नः पुरंधिः
शमुसन्तु रायः । शन्नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शन्नो
अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ क्र० ७ । ३५ । २ ॥

अर्थः—(भगः) सेवन करने योग्य सम्पत्ति (नः) हमें (शम) सुख दे (उ) और (शंसः) स्तुति, जप (नः) हमारे लिये (शं) कल्याणकारी (अस्तु) हो, (पुरंधिः) विशाल संस्कारोंको अपने अन्दर धारण करने वाली बुद्धि (नः) हमें (शं) सुख [दे] । (उ) और (रायः) ऐश्वर्य (नः) हमें (शं) सुख [दें] । (सु-यमस्य) आसानीसे धारण करने योग्य (सत्यस्य) सत्यका (शंसः) वर्णन (नः) हमारे लिये (शं) कल्याणप्रद [हो] । (पुरु-जातः) बहुत प्रसिद्ध (अर्यमा) सम्पत्तिशालियोंका [भी] बनाने वाला (नः) हमारे प्रति (शं) सुखदायक (अस्तु) हो ।

भावः—इसमें कोई सन्देह नहीं कि परमात्मा ही सबका अधीश्वर और स्वामी है । उसीकी दी हुई सम्पत्तिका सब राजा महाराज भोग करते हैं, परन्तु प्रभुकी कृपाका पात्र बननेके लिये आवश्यक है कि हम अपने जप, तप, सत्य, बुद्धि और धनादिको अपने लिये सुखदायक बनावें । सत्य व्यवहार स्वाभाविक है । बालकको सत्य सिखानेकी आवश्यकता नहीं,

परन्तु सभ्यताभिमानि, सुपाठित मण्डलीको सौ उपदेश करो, उससे मस नहीं होती । केवल सत्यका वर्णन करना विशेष लाभदायक नहीं होसकता । इसी प्रकार बल, बुद्धि और ऐश्वर्य धार्मिक कार्योंमें नियमपूर्वक लगकर ही हमारे लिये प्रभु-प्रसादका मार्ग खोलते हैं ।

३. शन्नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु, शन्न उरुची भवतु स्वधाभिः । शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शन्नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥ ऋ० ७ । ३५ । ३ ॥

अर्थः—(धाता) पोषण करने वाला (नः) हमें (शं) सुख [दे] (उ) और (धर्त्ता) धारण करनेवाला (नः) हमारे लिये कल्याणकारी (अस्तु) हो; (उरुची) विशाल [आकाश में] घूमने वाली [पृथिवी] (स्वधाभिः) अन्नादि द्वारा (नः) हमारे लिये (शं) कल्याण करने वाली (भवतु) हो । (बृहती) विस्तृत (रोदसी) भूमी और आकाश (शं) कल्याण [करें], (अद्रिः) पर्वत (नः) हमें (शं) सुख [दें]; (देवानां) देवताओंके (सु-हवानि) पवित्र आह्वान (नः) हमारे प्रति (शं) सुखप्रद (सन्तु) होवें ।

भावः—भौतिक और सामाजिक देवताओंका बुलाना और उनके द्वारा संकेतित नियमोंका पालन करना ही उन्हें अपने लिये सुखदायक बनाना है, अन्न द्वारा पुष्ट करनेवाली पृथिवी ही सुखप्रद है । यदि हमारी मूर्खतासे इतने विशाल देशमें रहते हुए, हमारी जाति भूखी रहती है, तो यह भूमि हमारे लिये दुःखदायक है, परन्तु इसका प्रतीकार अपनी बुद्धि द्वारा

विघ्नोंको दूर करना ही है। साधकको चाहिये कि परमात्मा और उसके जगत्से धारण करनेकी और गतिशीलताकी रीतिको सीखे। दोनों गुणोंका रखना उन्नतिका द्वार खोलना है।

४. शन्नो अग्निज्योतिरनीको अस्तु शन्नो मित्रावरुणा-
वश्विना शम् । शन्नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शन्न इषिरो अभि-
वातु वातः ॥ ऋ० ७ । ३५ । ४ ॥

अर्थः—(ज्योतिः-अनीकः) प्रकाशात्मक बलवाला (अग्निः) अग्नि (नः हमारे प्रति (शं) सुखप्रद (अस्तु) हो, (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (अश्विना) और अश्वी (नः) हमारेलिये (शं) कल्याण करें। (सुकृतां) पुण्यात्माओंके (सुकृतानि) अच्छे कर्म (नः) हमें (शं) सुख [दें], (इषिः) वेगवान् (वातः) वायु (नः) हमारे लिये (शं) सुखदायक होकर (अभिवातु) सर्वत्र चले।

भावः—अग्निके समान ज्योतिमें अपना बल जानो । अन्धकार में उल्लू, चिमगादड़, चोर और व्यसनी विचरते हैं। पुण्यात्माओंका सत्संग करो, ताकि उन्हें देखकर अच्छे कर्मोंमें रुचि पैदा हो। शेष पूर्व मन्त्रोंमें दिये हुए भावोंका पाठक स्वयं विस्तार करते जावें।

५. शन्नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृश्ये नो
अस्तु । शन्न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शनो रजसस्पतिरस्तु
जिष्णुः ॥ ऋ० ७ । ३५ । ५ ॥

अर्थः—(पूर्वहूतौ) पूर्वजोंके आह्वान [के कार्य] में (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (नः) हमारे लिये

(शं) कल्याण [करें] । (दृश्ये) देखनेके लिये (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (नः) हमें (शं) सुख [दे] । (वनिनः) वनके साथ संबंध रखने वाली (ओषधीः) ओषधियां (नः) हमारे लिये (शं) कल्याणकारक (भवन्तु) हों । (रजसः-पतिः) लोक, लोकान्तरका पालनकर्त्ता (जिष्णुः) जीतने वाला [प्रभु] (नः) हमें (शं) मंगल [देवे] ।

भावः—साधक ! जातिको उठाना चाहते हो ? सूर्यके समान चमकते हुए और पृथिवीके समान धारणकर्त्ता, पूर्वजोंके इतिहासको नवयुवकोंके सामने रखो । अन्तरिक्ष दूर २ तक विस्तृत है । तुम्हारी दृष्टिका भी ऐसा ही विस्तार हो । आगे, पीछे और चारों ओर देख सको । गेहूं आदि ग्राम्य ओषधियोंको तो तुम जानतेही हो । विज्ञान बढ़ाओ और जंगलके पत्ते २ का उपयोग करना सीखो । परमात्मा लोकोंका पालन करता है और विजयी है । जो मनुष्य लोक-रंजन करता है, वही वास्तवमें राजा होता है । अत्याचारी अधिक दिन नहीं ठहरते । लोगोंको दबाओ मत, उनके चित्तोंको मोहित करो । यही विजयका मार्ग है । यही सच्ची शान्तिका उपाय है ।

६. शन्न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु, शमादित्येभिर्वरुणः
सुशंसः । शनो रुद्रो रुद्रेभिर्जलापः शनस्त्वष्टा आभिरिह
शृणोतु ॥

ऋ० ७ । ३५ । ६

अर्थः—(इन्द्रः) इन्द्र (देवः) देवता (वसुभिः) [पृथिवी आदि] निवास योग्य [लोकोंके] साथ (नः) हमारे लिये (शं) मंगलप्रद (अस्तु) हो; (वरुणः) वरुण (सु-शंसः) अच्छी

स्तुति वाला (आदित्येभिः) आदित्योंके साथ (शं) कल्याण करे ।
 (जलाशः) शान्ति देने वाला (रुद्रः) रुद्र (रुद्रेभिः) रुद्रोंके
 साथ (नः) हमारे लिये (शं) मंगल करे, (त्वष्टा) सबका
 निर्माता (आग्निः) वाणियोंके साथ (नः) हमारे प्रति (शं)
 कल्याणकारी [होकर] (इह) इस [अवस्थ] में (ऋणोतु)
 [पुकारको] सुने ।

भावः—ऐश्वर्यसे विना निवास दुःखका कारण है ।
 जैसा साधक हो, उसे अपनी योग्यतानुसार ऐश्वर्य पैदा करना
 चाहिये । प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गकी सम्पत्तियोंमें तारतम्य
 तो है, पर उस तरह दोनों ही उपादेय हैं । ठीक उपयोग न कर
 सकना ही पापका मूल है । जो धनी दानी नहीं, वह अपने
 साथ धोखा करता है । आदित्य बनो, ताकि सर्वव्यापी, वरुणको
 तुम्हारी स्तुति भी भावे और वह तुमपर कृपालु हो । रुद्र
 बरसाने बरसाने वाली विभूतिका संकेत है । महारुद्र, परमात्मा
 नाना प्रकारके भौतिक मेघादि और सामाजिक विद्वान् आदि
 रुद्रों सहित सुख करें । साधक स्वयं भी रुद्रोंमें रुद्र बनकर
 रहना सीखे । पुण्यात्माओंपर आनन्दकी वृष्टि हो और दुष्टोंको
 दण्ड देकर भगाया जावे । वाणीका तात्पर्य विद्या है । निर्माण-
 शक्ति विद्यासे सुभूषित होकर ही लोकोपकारी हो सकती है ।
 अन्धेरे में कांट छांट क्या होगी ? आपने ही अंग कटेंगे । अतः
 विद्वान् त्वष्टा बनो ।

७. शंनः सोमो भवतु ब्रह्म शंनः शंनो ग्रावाणः शमु
 सन्तु यज्ञाः । शंनः स्वरूपां मितयो भवन्तु शंनः प्रस्वः
 शम्बस्तु वेदिः ॥ ऋक् ७ । ३५ । ७ ॥

अर्थः—(सोमः) सोम (नः) हमारे लिये (शं) सुख-
दायक (भवतु) हो, (ब्रह्म) जप (नः) हमें (शं) सुख [दे],
(ग्रावाणः) शिलाएं (उ) और (यज्ञाः) यज्ञ (नः) हमारे
लिये (शं) शान्तिप्रद (सन्तु) होवें। (स्वरूपां) वेदिका-स्तंभोंके
(मितयः) माप (प्रस्त्रः) ओषधियां (उ) और (वेदिः)
अग्निकुण्डादि (नः) हमें (शं) सुख [दें] ।

भावः—यज्ञमें मन्त्र पढ़े जाते हैं, सोमादि ओषधियां,
शिलाओंपर पीस पिसा कर आहुतिरूप बनायी जाती हैं; बड़े २
स्तंभ गाड़े जाते हैं और वेदीको तय्यार किया जाता है। साधक,
इन यज्ञोंको कर, और अपनेलिये सुखदायक बना। इसका
उपाय यही है कि आध्यात्मिक और सामाजिक संकेतोंसे
परिचित होकर लाभ उठाओ। त्याग और संगठनमें ही इन
कर्मोंका विस्तार है।

८. शन्नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शन्नश्चतस्रः प्रदिशो
भवन्तु । शन्नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शन्नः सिन्धवः शमु
सन्त्वापः ॥ ऋक्० ७। ३५। ८ ॥

अर्थः—(उरुचक्षाः) विस्तीर्ण प्रकाश करनेवाला
(सूर्यः) सूर्य (नः) हमारेलिये (शं) कल्याण [से युक्त
होकर] (उत्पतु) उदय हो (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाएं
(नः) हमारे लिये (शं) सुखयुक्त (भवन्तु) हों। (ध्रुवयः)
स्थिर (पर्वताः) पर्वत (सिन्धवः) समुद्र (उ) और [दूसरे]
(आपः) जल (नः) हमारे प्रति (शं) सुख [करें] ।

भावः—विशाल जगत्के विविध पदार्थोंके साथ अपने
आपको एकतान करके अनुभव करना है कि प्रभुकी रचनामें

कोई पदार्थ स्वरूपसे हानिकारक नहीं । मनुष्य स्वयं अज्ञानसे दुःख पाता है ।

९. शंनो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शंनो भवन्तु मरुतः स्वर्काः । शंनो विष्णुः शम्भु पूषा नो अस्तु शंनो भवित्रं शम्भ्वस्तु वायुः ॥ ऋ० ७ । ३५ । ९ ।

अर्थ—(अदितिः) अदिति (व्रतेभिः) व्रतों द्वारा (नः) हमारा (शं) कल्याण [करे] । (स्वर्काः) अच्छे स्तोत्रोंवाले (मरुतः) मरुत् (नः) हमारे (शं) सुखप्रद (भवन्तु) बनें । (विष्णुः) व्यापक प्रभु (उ) और (पूषा) पुष्टिकारक (नः) हमारा (शं) मंगलकारक (अस्तु) हो । (भवित्रं) [जो कुच्छ] है [या होना] है [वह] (उ) और (वायुः) वायु (नः) हमारा (शं) कल्याणकारी (अस्तु) हो ।

भावः—अदितिकी मित्रता व्रतपालनसे होती है । ऐसा करनेपर, जो कुच्छ भूत, भविष्य और वर्त्तमान है, सब आनन्दही आनन्दसे पूर्ण दिखाई देता है ।

१०. शंनो देवा सविता त्रायमाणः शंनो भवन्तूषसो विभातीः । शंनः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शंनः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः । ऋ० ७ । ३५ । १० ।

अर्थ—(देवः) प्रकाशमान (त्रायमाणः) रक्षा करता हुआ (सविता) सर्वोत्पादक सूर्य (नः) हमारेलिये (शं) सुखरूपहो । (विभातीः) चमकती हुई (उषसः) प्रभातें (नः) हमें (शं) सुख दें । (पर्जन्यः) मेघ (नः) हमारी (प्रजाभ्यः) प्रजाओंकेलिये (शं) हितकारी (भवतु) हो । (क्षेत्रस्य) खेतों

और निवासके योग्य स्थानोंका रक्षक (शंभुः) कल्याणकारी [देव] (नः) हमारा (शं) कल्याण [करे] ।

भावः—प्रभातके समय पूर्व दिशाकी लाली ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर प्रभुकी महिमाको देखनेकेलिये बाहिर निकल जाने वालोंकोही सुखदायक होती है । मेघ दो रूपोंमें वर्णन किया है । जलसे भूतलको पूर्ण करनेवाला और खेतोंकी रक्षा करने वाला और घरोंको बचाने वाला । अनावृष्टि और अतिवृष्टि दोनोंसे हानि होती है । मानसिक शुभ भावनाओं और संकल्पोंका भी भौतिकजगत् पर वैद्युत तरंगोंके समान अवश्य प्रभाव पड़ता ही रहता है ।

११. शंनो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सहधी-
भिरस्तु । शमभिषाचः शम्भु रातिषाचः शंनो दिव्याः
पार्थिवाः शन्नो अप्याः । ऋक० ७ । ३५ । ११ ।

अर्थः—(विश्वदेवाः) सब ज्योतियोंको रखनेवाले (देवाः) देवता (नः) हमारे लिये (शं) सुखस्वरूप (भवन्तु) हों । (सरस्वती) विद्यादेवी (धीभिः) नाना प्रकारकी बुद्धियोंके (सह) साथ (शं) कल्याण करने वाली (अस्तु) हो । (अभि-साचः) साक्षात् संबंधवाली (उ) तथा (राति-साचः) दान द्वारा संबंधवाली [ज्योतियां] (दिव्याः) दिव्य (पार्थिवाः) पृथिवीपर होनेवाले [और] (अप्याः) जलमें होनेवाले [देवता] (नः) हमारे लिये (शं) कल्याण करें ।

भावः—असाधारण प्रकाश, बल, पराक्रम, ज्ञान धारण करने वाला सत्ताको देवता कहते हैं । आकाश, अन्तरिक्ष,

पृथिवी और जलमें असंख्य देवता रहते हैं । इनमें सूर्यादि कुछ तो परोपकार करते हुए सामने विद्यमान होते हैं । कई सब्जे संन्यासियों और ब्राह्मणोंकी तरह चुप चाप त्याग भावसे कार्य किये चले जाते हैं । उनका प्रचुर उपकारही हमें उनका ध्यान दिलाता है । हमें इन सबसे उपदेश ग्रहण करना चाहिये ।

१२. शंनः सत्यस्य पतयो भवन्तु शंनो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः । शंन ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शंनो भवन्तु पितरो हवेषु । ऋ० ७ । ३५ । १२ ।

अर्थः—(सत्यस्य) सत्यके रक्षक (नः) हमारेलिये (शं) सुखकारक (भवन्तु) हों, (अर्वन्तः) घेड़े (उ) और (गावः) गौएँ (शं) सुखकारी (सन्तु) हों । (ऋभवः) बुद्धिमान् (सुकृतः) सुकर्मों (सुहस्ताः) निपुण कारीगर [लोग] (नः) हमें (शं) सुख [दें] । (हवेषु) होमादि सत्कर्मोंमें (पितरः) शानी [लोग] (नः) हमें (शं) सुखदायक (भवन्तु) हों ।

भावः—हमें उचित है कि जहां हम धन, धान्य और पशुओंकी संपत्तिद्वारा सुखके साधन पैदा करें, वहां शानी लोगोंका सत्संगभी करते रहें । उन्हींसे हमें यह पता लगता है कि भोग क्या है और त्याग क्या है और किस तरह इन दोनों मागोंपर चलते हुए भी, हम धार्मिक बन सकते हैं ।

१३. शंनो अज एक पादेवो अस्तु शंनो ऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः । शंनो अपां नपात्पेरुरस्तु शंनः पृश्निर्भवतु देवगोपाः । ऋ० ७ । ३५ । १३ ।

अर्थ:—एक पाद [मैं संसारको घेरने] वाला (अजः) सर्वव्यापी (देवः) प्रभु (नः) हमारेलिये (शं) सुखकारी (अस्तु) हो, (बुध्यः) अन्तरिक्षस्थ (अहिः) मेघ [और] (समुद्रः) सागर (नः) हमें (शं) सुख [दें] । (अपां) जलोंको (न पात्) नाश न करने वाली [पृथिवी] (पेरुः) पालन करनेवाली (नः) हमें (शं) सुख दे, (देव-गोपाः) विद्वान् जिसके रखवाले हैं [पेसा] (पृश्निः) ज्योतिर्लोक (नः) हमारे लिये (शं) हितकारी (भवतु) हो ।

भाव:—उस सर्वव्यापक प्रभुकी महिमाका क्या वर्णन ? सारा ब्रह्माण्ड, मानो, उसका एक पाद है । शेष तो सारा हमारे अनुभवमें ही नहीं आता “जलसे पृथिवीकी उत्पत्ति मानी गई है । अद्भ्यः पृथिवी” वही भूमि अच्छी होती है, जो जलको ठीक तरहसे पीकर, धान्यादि द्वारा सबका पालन करे । विद्वानोंका सत्संग और अनुग्रह होजानेपर ही ज्योतिर्मय लोकोंका हमारे लिये मार्ग खुलता है । साधनाके टिकटके बिना वहां किसीका भी प्रवेश नहीं होसकता ॥

१४. इन्द्रो विश्वस्य राजति । शंनो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ यजु० ३६। ८ ॥

अर्थ:—(इन्द्रः) इन्द्र (विश्वस्य) सबका (राजति) राजा है । [उसीकी कृपासे] (नः) हमारे (द्वि-पदे) दो पांव वाले [तथा] (चतुः-पदे) चौपाये [मनुष्य, पक्षी, पशु आदि] केलिये (शं) कल्याण (अस्तु) हो ।

भाव:—राजा प्रकाशकको कहते हैं । इन्द्र परमैश्वर्य तथा प्रकाशका पुञ्ज है । उसीकी कृपासे भौतिक इन्द्र अर्थात् विद्युत्

या सूर्यमें यह शक्ति है कि सबको प्रकाश और स्वास्थ्य, बलादि प्रदान करे । आर्य जीवनका यह एक चिन्ह है कि प्राणिमात्रके मंगलकी कामना की जावे ॥

१५. शं नो वातः पवतांश्च तपतु सूर्यः । शं नः कनिक्रददेवः पर्जन्यो अभिवर्षतु ॥ यजु० ३६ । १० ॥

अर्थः—(वातः) वायुः (नः) हमारेलिये (शं) मंगल [प्रदान करता हुआ] (पवतां) चले । (सूर्यः) सूर्य (नः) हमें (शं) सुख [देता हुआ] (तपतु) तपे । (कनिक्रदत्) गर्जता हुआ (पर्जन्यः) मेघ (नः) हमारा (शं) हितकारी होकर (अभि-वर्षतु) सर्वत्र बरसे ।

भावः—वायु, सूर्य और मेघ जीवन देनेवाली विभूतियाँ हैं । हमारे अन्दर इनसे लाभ उठानेकी शक्ति तथा योग्यता हो ॥

१६. अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रीः प्रतिधीयताम् । शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या । शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥ यजु० ३६ । ११ ॥

अर्थः—(नः) हमारेलिये (अहानि) दिन (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हों । (नः) हमारे लिये (रात्रीः) रातोंमें (शं) सुख (प्रति-धीयतां) धारण किया जावे । (नः) हमारे लिये (इन्द्राग्नी) इन्द्र तथा अग्नि (अवोभिः) रक्षाओं द्वारा (शं) सुखदायक (भवतां) हों । (रात-हव्या) ग्रहण करने योग्य पदार्थोंके दानी (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण (नः) हमें (शं)

सुख [दें] । (वाज-सातौ) युद्धादिमें (इन्द्रापूषणा) इन्द्र और पूषा (नः) हमें (शं) सुख [दे] । (सु-इताय) अच्छे जीवनके लिये (इन्द्रा-सोमा) इन्द्र और सोम (शं) शान्ति [और] (योः) अभय [प्रदान करे] ।

भावः—साधक सदा मंगलकी कामना करे । प्रातः सायं, सोते और जागते समय, प्रभुसे यही प्रार्थना करे और इसीके अनुसार आचरण करे ।

१७. शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये । शं योरभि स्रवन्तु नः ॥ यजु० ३६ । १२ ॥

अर्थः—(देवीः) प्रकाशादि गुणयुक्त (आपः) सर्व व्यापक जल (अभिष्टये) यज्ञादि मनोरथोंकेलिये [तथा] (पीतये) पीनेके लिये (नः) हमारे प्रति (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हों । (शं) रोगोंको दबाती हुई (योः) भयोंको दूर करती हुई [जल-धारापं] (नः) हमारे (अभि) प्रति (स्रवन्तु) बहती रहें ।

भावः—हिम, द्रव और वाष्पके रूपमें जल सर्वत्र विद्यमान है । परमात्माकी सर्वव्यापिनी विभूति है । शान्तिदायक और रोगनिवारक है । साधक इसका ठीक २ उपयोग करे और आध्यात्मिक संकेतका ग्रहण करता हुआ, प्रभुके चरणोंमें झुक जावे । वास्तवमें शान्ति वहाँसे प्राप्त होसकती है ।

१८. द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्ति-
रापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे-

देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः
सा मा शान्तिरेधि ॥ यजु० ३६। १७ ॥

अर्थः—(द्यौः) प्रकाशमान लोक (शान्तिः) शान्ति
[से युक्त हो], (अन्तरिक्षं) बीचका लोक (शान्तिः) शान्ति
[से युक्त हो], (पृथिवी) पृथिवी (शान्तिः) शान्ति [से युक्त हो]
(आपः) जल (शान्तिः) शान्ति [से युक्त हों], (ओषधयः)
ओषधियां (शान्तिः) शान्ति [से युक्त हों], (वनस्पतयः)
वृक्षादि (शान्तिः) शान्ति [से युक्त हों], (विश्वे) सारे (देवाः)
देवता (शान्तिः) शान्ति [से युक्त हों], (ब्रह्म) जप और
स्वाध्याय (शान्तिः) शान्ति [संयुक्त हों] (सर्वं) सब [कुछ]
(शान्तिः) शान्ति [से युक्त हो] (शान्तिः) शान्ति (एव) ही
(शान्तिः) शान्ति [हो], (सा) वह (शान्तिः) शान्ति (मा)
मुझे (एधि) प्राप्त हो ।

भावः—क्या सुन्दर उपदेश है ! शांति २ कहनेसे शांति
न होगी । जप और स्वाध्याय द्वारा निश्चय करो कि जिसे तुम
शांति समझते हो, वह कहीं अशान्ति या मृत्युका ही तो चित्र
नहीं । साधक, सारा जगत् परस्पर मिलकर कार्य कर रहा है ।
केवल मनुष्य ही इस सर्वव्यापक शांतिके साम्राज्यमें कभी २
कण्टक बनकर सुन्दर, मनोहर फूलोंको दूषित करने लग
जाता है । सच्ची शान्ति इस संगठनके भावसे युक्त पुरुषार्थमें
है । उसीको अपना लक्ष्य बना । कहीं आलस्यको ही शान्ति न
समझ बैठना । उद्यमही जीवन है ।

१९. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुचरत् । पश्येम शरदः

शतं जीवेमशरदः शतशृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः
शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

यजु० ३६ । २४ ।

अर्थः—(तत्) वह (चक्षुः) सूर्योका सूर्य, परम प्रकाशक
(देव-हितं) देवताओं द्वारा धारण किया हुआ (शुक्रं) शुद्ध,
तेजस्वी (पुरस्तात्) पूर्वसे (उत्-चरत्) उदय होता है । [उसकी
कृपासे हम] (शतं) सौ (शरदः) वर्ष तक (पश्येम) देखते
रहें, (जीवेम) प्राणधारण करते रहें । (शृणुयाम) पढ़ते रहें,
(प्र-ब्रवाम) उपदेश करते रहें (अदीनाः) स्वतंत्र (स्याम) रहें
(च) और (शतात्) सौ (शरदः) वर्षसे [भी] (भूयः)
अधिक [यदि आयु हो, तो भी ऐसेही रहें] ।

भावः—पूर्व दिशासे उदय होता हुआ सूर्य परमात्म-
ज्योतिका संकेत है । वह अनादि ज्योति सर्व प्रकाशक है । उसके
शुद्ध स्वरूपको देवताही धारण करते और समझ सकते हैं ।
साधक, उसीका सदा ध्यान किया करो । और यह लक्ष्य
बनाओ, कि पूर्ण आयु जीना है । जीनेसे तात्पर्य अदीनभाव
और ज्ञानसे युक्त होकर जीना है । पशुपन हमारा लक्ष्य नहीं,
पंगु बनकर रहना हमें अभीष्ट नहीं । चलते फिरते हुए, पढ़ते
पढ़ाते हुए, किसीके आगे चापलूसी या खुशामद न करते हुए,
हम जीना चाहते हैं ।

२०. यज्जाग्रतो दूरमुदैतिदैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु० ३४ । १ ।

अर्थ:—(यत्) जो (दैवं) दिव्य (जाग्रतः) जागते हुएका (दूरं) दूर (उत्-पति) निकल जाता है (उ) और (तथा-एव) वैसेही (तत्) वह (सुप्तस्य) सोए हुएका (पति) चलता है । (दूरं-गमं) दूर २ जानेवाला (ज्योतिषां) इन्द्रियरूपी ज्योतियोंका (एकं) एक (ज्योतिः) ज्योति [है] (तत्) वह [ऐसा] (मे) मेरा (मनः) मन (शिव-संकल्पं) अच्छे संकल्पवाला (अस्तु) होवे ।

भाव:—इन्द्रियां ज्योतियां हैं और उनके ऊपर, केन्द्ररूप मानसिक ज्योति है । यहभी प्रभुकी सृष्टिमें एक विभूति और दिव्य पदार्थ है । यह दिनरात बड़े वेगसे चलता है । योगी इसीको अपने वशमें करके परम सिद्धिको प्राप्त करते हैं । संकल्प, विकल्प करते रहना इसका स्वभाव है । साधकका यत्न होना चाहिये कि इसे मंगलमय संकल्प इतने दे दे कि इसे और इधर उधर भटकनेका अवसरही न मिले । इसीका नाम मानसिक शुद्धि है ।

२१. येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विद-
थेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिव-
संकल्पमस्तु । यजु० ३४ । २ ।

अर्थ:—(येन) जिसके द्वारा (अपसः) कर्मनिष्ठ (मनीषिणः) मानसिक प्रेरणाओंके स्वामी (धीराः) मेधावी [सज्जन] (यज्ञे) यज्ञ [तथा] (विदथेषु) ज्ञानके प्रचारके स्थानों [सभा, समाजादि] में (कर्माणि) कर्म (कृण्वन्ति) करते हैं, (यत्) जो (प्रजानां) प्रजाओंके (अन्तः) मध्यमें

(अपूर्व) सबसे बढ़कर (यज्ञं) संयुक्त होने वाला [पदार्थ] है (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पं) शिव संकल्प वाला (अस्तु) हो ।

भावः—कौनसा पदार्थ है, जिसे मनुष्य मानसिक संयोगके बिना जान सकता है ? कौनसा कर्म है, जो इसके बिना हो सकता है ? इसलिये इस श्रेष्ठ बलयुक्त मनको पवित्र बनानाही शान्तिके मार्गपर चलना है ।

२२. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं
प्रजासु । यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः
शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु० ३४ । ३ ॥

अर्थः—(यत्) जो (प्रज्ञान) विशेष ज्ञानका साधन (उत) और (चेतः) स्मृतिका साधन (च) और (धृतिः) धैर्यादि वृत्तियोंका साधन (यत्) जो (प्रजासु) सब प्राणियोंमें (अन्तः) अन्दरकी (अमृतं) अमर (ज्योतिः) ज्योति [है], (यस्मात्) जिसके (ऋते) बिना (किंचन) कोई भी (कर्म) कर्म (न) नहीं (क्रियते) किया जाता, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पं) शिवसंकल्पवाला हो ।

भावः—अन्तःकरण भिन्न २ वृत्तियोंके कारण बुद्धि, चित्त, अहंकार और मन-इन नामों से प्रसिद्ध है । यही बात यहां खोली गयी है । यह मानसिक यन्त्र इन सब काय्योंको करता कराता हुआ, सदा साथ रहता है । शरीर छोड़नेपर भी साथ नहीं छोड़ता । साधारण मृत्यु इसे नहीं घेरती । यही

हमारा चित्रगुप्त है । इसे शुद्ध करो, ताकि कहीं हमारे विरुद्ध साक्षी न बन जावे ।

२३. येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्प-
मस्तु ॥ यजु ३४ । ४ ॥

अर्थः—(येन) जिस (अमृतेन) अमरद्वारा (इदं) यह (सर्वं) सारा (भूतं) भूत (भुवनं) वर्तमान (भविष्यत्) आने वाला [संसार और सांसारिक संस्कार] (परि-गृहीतं) भले प्रकार ग्रहण किया गया है । (येन) जिस द्वारा (सप्त-होता) सात होताओंवाला (यज्ञः) यज्ञ (तायते) रचाया जाता है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पं) शिवसंकल्प वाला (अस्तु) होवे ।

भावः—कालका भेद क्षणिक पदार्थोंमें अधिक चरितार्थ होता है । मन तो जन्म, जन्मान्तरोंके संस्कारोंका संग्रह करता हुआ, विचारद्वारा भविष्यत्को भी लपेट रखता है । इसीकी प्रेरणाओंसे प्रेरित होकर दो श्रोत्र, दो आंखें, दो नासिकाएं और मुख-सात होता बन कर दिन-रात जीवनके यज्ञको कर रहे हैं । शुद्ध मन होनेपर यह प्रेरणाएं शुद्ध होंगी और इन होताओंकी आहुतियां भी शुद्ध होंगी । अतः जीवनकी शुद्धिकेलिये मनका शुद्ध रखना ही परम साधन है ।

२४. यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ यजु ३४ । ५ ॥

अर्थः—(यस्मिन्) जिसमें (रथनाभौ) रथके धुरेमें (अराः) अरोंकी (इव) भान्ति (ऋचः) ऋचाएं (साम) साम (यजूंषि) यजु (प्रति-स्थितानि) प्रतिष्ठित हैं । (यस्मिन्) जिसमें (प्रजानां) प्रजाओंका (सर्वे) सारा (चित्तं) ज्ञान (ओतं) पिरोया हुआ है, (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पं) शिवसंकल्पवाला (अस्तु) हो ।

भावः—ऋचाएं पदार्थोंको वर्णन करती हुई ज्ञानकी वाचक हैं, और साम भक्तिके और यजु कर्मके वाचक हैं । अर्थात् ज्ञान, कर्म और उपासनाका संयोग-केन्द्र (Connecting centre) तो मनही है । इस लिये जितना हमें ज्ञान होता है, वह भी इसी केन्द्रसे होकर ही हमें प्राप्त होता है । यह निर्मल होगा, तो हमारी तीनों मार्गोंपर प्रवृत्तियां शुद्ध तथा ठीक हो सकेंगी ।

२५. सुषाराथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभि-
र्वाजिन इव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिव-
संकल्पमस्तु ।

यजु० ३४ । ६ ।

अर्थः—(यत्) जो (मनुष्यान्) मनुष्यादि प्राणियोंको (नेनीयते) बलपूर्वक घसटकर ले जाता है (इव) जैसे (सु-सारथिः) अच्छा कोचवान (अभीशुभिः) लगामोंद्वारा (वाजिनः) बलयुक्त (अश्वान्) घोड़ोंको [वशमें करके जहां चाहता है, ले जाता है] । (यत्) जो (अजिरं) जरारहित (जविष्ठं) बड़ा वेगवान् (हृत्-प्रतिष्ठं) हृदयमें प्रतिष्ठित रहता है

(तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पं) शिवसंकल्प वाला (अस्तु) हो ॥

भावः—वास्तवमें मनको रोकना बड़ा ही दुष्कर काम है । परन्तु है आवश्यक । नहीं तो जैसे अयोग्य कोचवानके साथ बैठकर गढ़ोंमें गिरना ही परिणाम होता है, ऐसे ही वशसे निकला हुआ मन भी, यात्रीको, न जाने, कहां २ भटकाता है । साधकको चाहिये कि इस अति बलशाली देवताको अच्छी सड़कपर डाल दे । मनको मारनेका अर्थ यही है कि उसकी दुष्ट वृत्तियोंका नाश किया जावे । बुरे संकल्प पैदा ही न होने पावें ।

२६. स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते ।

शं राजन्नोषधीभ्यः ॥

साम० २ । १ । १ ॥

अर्थः—हे (राजन्) प्रकाशमान सर्वोत्पादक, सोमरूप भगवन्, (सः) इस प्रकारके आप (नः) हमें (पवस्व) शुद्ध करदें, (गवे) गौओंके लिये (जनाय) मनुष्योंके लिये (अर्वते) घोड़ोंके लिये (ओषधीभ्यः) ओषधियोंके लिये (शं) कल्याण हो, कल्याण हो ।

भावः—शान्तिकी प्राप्तिकामुख्य साधन आत्मशुद्धि है । विश्वव्यापी, दैवी शक्तियोंके साथ एकता स्थापित करके मनको सुमार्गपर चलानेका उपदेश हो चुका । पुनः साधक यही प्रार्थना करे कि “मैं शुद्ध बनूं और सबका कल्याण हो” इससे निर्वैरताका भाव पैदा होगा । उसके जीवनमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा होगी । दूसरेके सुखको अपना सुख और दूसरोंके दुःखको अपना दुःख समझने लगेगा । इसका फल वास्तविक शान्ति

और अभयसे भराहुआ जीवन है । यह भाव अन्तिम मन्त्रोंमें आता है ।

२७. अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी
उभे इमे । अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो
अस्तु । अथर्व० १९ । १७ । ५ ।

अर्थ—(अन्तरिक्षं) बीचका लोक (नः) हमारेलिये
(अभयं) अभय (करति) करे । (इमे) यह (उभे) दोनों (द्यावा
पृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (अभयं) अभय [करें] ।
(पश्चात्) पीछे (पुरस्तात्) आगे (उत्तरात्) ऊपर (अधरात्)
नीचे [सब ओरसे] (अभयं) अभय हो ।

भावः—जब हमने सबको अभय दान दे दिया,
तो फिर सब ओरसे हमें भी अभयही अभय होगा । भय तो
अपने अन्दरसे राग, द्वेष आदिके कारणही होता है ।

२८. अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं
पुरो यः । अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं
भवन्तु । अथर्व० १९ । १७ । ६ ।

अर्थः—(मित्रात्) मित्रसे (अभयं) अभयहो, (अमित्रात्)
अमित्रसे (अभयं) अभयहो, (ज्ञातात्) जो कुछ जान लिया,
उससे (अभयं) अभयहो (पुरः) आगे (यः) जो [आना है,
उससे] (अभयं) अभयहो (नक्तं) रात्रिमें (अभयं) अभयहो,
(दिवा) दिनमें (अभयं) अभयहो, (सर्वाः) सारी (आशाः)
दिशाएं (मम) मेरी (मित्रं) मित्र (भवन्तु) हों ।

भावः—मित्रसे कब अभय होगा ? जब हम अपनी ओरसे कभी उसके साथ द्रोहादि न करेंगे । उसे कभी अवसर ही न देंगे कि वह हमारे असभ्य व्यवहारसे छूट हो । अमित्रभी भला करनेसे मित्र बनाया जा सकता है । जो कुछ जाना जा चुका, वह भूत इतिहास है । उससे शिक्षा लेकर चलनाही उससे भयरहित होना है । सोच विचार कर कार्य क्रम बनाना भविष्यत् से निर्भय होना है । घबराहटमें कोई कार्य न करना चाहिये । साधक, यह शान्ति-प्राप्तिका वैदिक राजपथ है । उत्साह, परिश्रम और ज्ञान धारण करके तुम इस मार्गपर पग धरो । अपनी कमाईका फल अच्छी तरह भोगो । कभी दुर्बलता लाने वाली वासनाओंको सिरपर न चढ़ने दो । बलशाली संकल्प-बल बढ़ते हैं । शुभ भावनाएं हृदयको उभारती हैं । महाजनोंका सत्संग सुगन्धित पुष्पोंकी तरह हृदय और बुद्धिको आवासित कर देता है । दीनताको पास मत फटकने दो । स्वतन्त्रताके वायु मण्डलमें प्राण-धारण करना सीखो । यही शान्ति है ।

—०—

पांचवां प्रकरण ।

होत्रकी तय्यारी ।



१. आचमन और अंग स्पर्श—इस क्रमसे मन्त्रोंके पाठ तथा विचारसे प्रभुकी रचनामें सर्वत्र स्वस्ति तथा शान्तिका प्राप्त करने वाला साधक, अपने नित्य कर्मकी तय्यारी करे ।

प्रथम दाएं हाथकी हथेलीपर तीन बार थोड़ा २ जल लेकर नीचे दिये हुए मन्त्रोंको क्रमसे पढ़े और हथेलीके मूलमें मुंह लगाकर विना शब्द किये, पी ले । फिर बाएं हाथकी हथेलीपर थोड़ा सा जल लेकर, दाएं हाथकी बीचकी अंगुलियोंसे, नीचे दिये मन्त्रोंके अनुसार, भिन्न २ अंगोंका जलद्वारा स्पर्श करे । इस कर्मसे कण्ठका कफ दूर होता है । आलस्य भाग जाता है और, मानो, चेतनता जाग पड़ती है । परन्तु भौतिककी अपेक्षा सांकेतिक (Symbolical) विधिसे आत्मिक लाभ बहुत अधिक होसकता है । इसका विचार पूर्व दूसरे अध्यायमें किया जा चुका है । संकल्पद्वारा भिन्न २ अंगोंके अन्दर पुष्टिका धारण किया जाना जगत्-प्रसिद्ध बात हो चुकी है संकल्प (auto-suggestion) द्वारा अनेक रोगोंकी चिकित्साकी जा रही है । पूर्व और पश्चिमके विद्वान् इस चिकित्साको स्वीकार कर चुके हैं । परन्तु सबसे प्रथम इसके उपदेश करनेका श्रेय वेद भगवान्को ही है* । अंग स्पर्शके मन्त्रोंको पढ़ते हुए साधक यह धारणा किया करे कि मेरे अंग और प्रत्यंग पुष्ट, निरोग और सुडौल हो रहे हैं । मेरी जीवन-शक्ति बढ़ रही है । मैं पवित्र और धार्मिक हो रहा हूं । इन भावनाओंका सर्व प्रकारसे स्वास्थ्यप्रद प्रभाव पड़ेगा ।

अब पहिले आचमनके मन्त्र दिये जाते हैं—

२. ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥

* वैदिक चिकित्सा-पद्धतिका विस्तार मेरे 'वेद-सन्देश' नामक ग्रन्थके शरीर-सन्देश नामक दूसरे अध्यायमें देखो ।

ओम् सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥

मानवगृह्यसूत्र, १।९।१५—१७ ॥

अर्थः—हे (अमृत) अमृत [जल, तू] (उप-स्तरणं) नीचेका बिछोना (असि) है [तू] (अपि-धानं) ऊपरका ढकना या ओढ़ना (असि) है । (सत्यं) सत्य, (यशः) यश, (श्रीः) लक्ष्मी (श्रीः) आश्रयभूत होकर (मयि) मुझमें (श्रयतां) धारण हो । (स्वाहा) मैं मन, वचन और कर्मसे यह (स्व) अपने स्वरूपको समझकर (आह) कहता हूँ* ॥

भावः—जल अमृत है, क्योंकि शांति देता है । न केवल पीनेसे, वरन दर्शनसे भी ठण्डक पहुँचाता है । जल अमृत है क्योंकि हिम, द्रव और वाष्पके रूपमें सदा विद्यमान रहता है । यह इसकी क्रमसे तामसिक राजसिक और सात्त्विक अवस्थाएँ हैं । हे साधक, सच्चे हृदयसे यह शब्द निकाल और स्वाहा-कारका उच्चारण करता हुआ, अपनी महिमाका भी विचार तो कर । तू भी तो अमृत है । शरीर-रूपी भेषोंको बदलता हुआ, सत्त्व, रजस् और तमस्के चक्रमें पड़कर ऊपर, नीचे हो रहा है । भ्रमको दूरकर और अपने स्वरूपको समझ । हे साधक, परमात्मा सब अमृतोंका अमृत है । उसमें कभी किसी प्रकारका भी विकार नहीं आता । तू अपने जीवनको उसी अमृतके

* स्वाहा भी एक संकेत है । यज्ञकी इसीमें परिसमाप्ति है (शत० १।५।३।१३ ॥) होता सारा कृत्य आत्मिक महिमा अर्थात् विकासके लिये करता हुआ, इस पदका वार २ उच्चारण करे । श्रद्धा पूर्वक विद्वान् होता सृष्टि-यज्ञमें अपनी स्थितिको समझकर आहुति डाले और अपने स्वरूपका चिंतन करे । (शत० २।२।४।६ ॥) ।

बिछोने और ओढ़ने में लपेट डालें । जिस तरह हिमको कम्बलोंमें लपेटकर बाहिरकी सर्दी गर्मीसे हम उसे बचा लेते हैं, ऐसे ही तू भी अपने आपको इस अमृतभावके कम्बलोंमें लपेटकर सुरक्षित कर । साथ ही अपना निरादर कभी न कर । अमृत तू है और अमृत ही बना रहो । इसके लिये यत्न करो और मार्गपर चलो । सत्यको धारण करो । कभी असत्यका व्यवहार मत करो । यशकी कामना करो । यश विस्तारका नाम है । संकोच छोड़ो और विद्वान् होता बनकर प्राणिमात्रको गले लगाओ । यही यशमार्ग है । यही सच्ची श्री है । वह लक्ष्मी कुलक्षणा है, जिसके होते हुए कोई अर्थी हमसे सहायता न पा सके । धन, सम्पत्ति वही ठीक है, जो दरिद्रोंके पालनमें काम आवे । इस प्रकार हे अमृतके अन्दर घुसकर अमृत होने वाले, अमृतस्वरूप साधक, सत्य, यश और श्रीके भावको समझ और सदा इन्हें बढ़ाते और धारण करते रहो ।

३. अब पूर्वोक्त विधिसे जल लेकर अंग स्पर्श करे । वे मन्त्र यह हैं ।

ओं वाङ् म आस्येऽस्तु ॥ १ ॥ इससे मुख ।

अर्थ:—(मे) मेरे (आस्ये) मुखमें (वाक्) वाणी [बलवती] (अस्तु) हो ।

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ २ ॥ इससे नासिकापं ।

अर्थ:—(मे) मेरी (नसोः) नासिकाओंमें (प्राणः) प्राण-शक्ति (अस्तु) बढ़े ।

ओं अक्षोर्मे चक्षुरस्तु ॥ ३ ॥ इससे नेत्र ।

अर्थ:—(मे) मेरी (अक्षुण्णः) आंखोंमें (चक्षुः) देखनेकी शक्ति (अस्तु) बढ़े ।

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ ४ ॥ इससे कान ।

अर्थ:—(मे) मेरे (कर्णयोः) कानोंमें (श्रोत्रं) श्रवण शक्ति (अस्तु) बढ़े ।

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ ३ ॥ इससे भुजाएं ।

अर्थ:—(मे) मेरी (बाह्वोः) भुजाओंमें (बलं) बल (अस्तु) हो ।

ओं ऊर्वो र्मे ओजोऽस्तु ॥ ६ ॥ इससे जंघाएं ।

अर्थ:—(मे) मेरी (ऊर्वोः) जंघाओंमें (ओजः) सत्व (अस्तु) हो ।

ओं अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥७॥

अर्थ:—(मे) मेरा (तनूः) शरीर [अर्थात्] (मे) मेरे (तन्वाः) शरीरके (अङ्गानि) सब अंग (सह) साथ २ (अरिष्टानि) रोगरहित (सन्तु) हों ।

४. इन* मन्त्रों द्वारा पूर्व कहे प्रकारसे साधक अपनी शक्तियोंको बढ़ाता हुआ, यज्ञकी तय्यारी करे । होताका अर्थ है, त्याग करने वाला । त्याग वह कर सकता है, जो मालिक हो । दासोंका त्याग उपहास है और अपने आपको धोखा देना है । इस लिये हे साधक, स्वतन्त्र होनेका यत्न करो । परतन्त्रतामें

* यह पारस्कर गृह्यसूत्र १ । ३ । २५ ॥ के उद्धरण हैं । वेदमें भी इस प्रकारके संकल्पोंका उपदेश है । प्रमाण तथा व्याख्याके लिए देखो, वेद-सन्देश प्रथम भाग, २ । १ । २२—२४ ॥

अग्निहोत्र करनेका पूराआधिकार नहीं होसकता। स्वराज्य प्राप्तिके लिये आत्म-सिद्धि ही श्रेष्ठ उपाय है। तुम शरीर नहीं हो, न शरीरके दास हो। अंग स्पर्शका अन्तिम मन्त्र यह शिक्षा देता है कि शरीर तुम्हारा है। अतः धार्मिक कार्योंमें इसे लगाओ। प्राकृतिक वासनाओंके उतार चढ़ावमें आकर यूँही नाच मत नाचने लग जाया करो। जो तपस्वी, अपने आप स्वामी होते हैं, वे ही वास्तवमें स्वराज्य संग्रामके अग्रगण्य, मान्य नेता होते हैं। वे लोहेके पिंजरोंमें भी स्वतन्त्र रहते हैं।

५. अग्न्याधानः—

ओं भूर्भुवः स्वः ॥ १ ॥ गोभिलगृह्य० १।१।११ ॥

इस मन्त्रका उच्चारण करके घृतका दीपक प्रदीप्त करें या कड़छोमें कर्पूर रखकर उसे प्रदीप्त करें। फिर अगले मन्त्रसे अग्न्याधान करें अर्थात् उस अग्निको कुण्डमें कुछ समिधाओंके बीचमें रखें।

ओं भूर्भुवः स्वद्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥ २॥

यजु० ३।५ ॥

अर्थः—हे [पृथिवी] (देव-यजनि) जिसपर देवता नित्य यज्ञ करते हैं और जहां उनकी पूजा होती है, (तस्याः) इस प्रकारकी (ते) तेरी (पृष्ठे) पीठपर (अन्नाद्याय) भक्षण-योग्य अन्नके लिये (अन्नादं) सर्वभक्षक (अग्नि) अग्निको (आ-दधे) रखता हूं, [ताकि मैं], (भूः) भूलोक, (भुवः) अन्तरिक्षलोक (स्वः) स्वर्लोक [के रसरूप गुणोंको धारण

कर सकूं] । (भूम्ना) बड़ाईमें (द्यौःइव) नक्षत्रादिकी महिमासे महान् द्युलोकके समान [तथा] (वरिष्णा) विस्तारमें (पृथिवी-इव) पृथिवीके समान सब प्राणियोंका आश्रय बन सकूं* ।

अब अगले मन्त्रसे छोटें २ काष्ठ रखकर अग्निको प्रदीप्त करना चाहिये ।

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते स १५
सृजेथामयं च । अस्मिन् सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा
यजमानश्च सीदत ॥३॥ यजु० १५। ५४ ।

* भूः भुवः और स्वः, तीन महाव्याहृतियां हैं । भूः सत्ताका वाचक है । (शत० २। १। ४। ११-१३) तथा अन्यत्र भी शास्त्रोंमें इन शब्दोंका व्याख्यान किया गया है । सार यह है कि जिस प्रकार ओम् संकेत है उसी प्रकार यह तीन शब्द भी संकेत हैं । तीनों लोक, ब्राह्मणादि तीन वर्ण, अन्न प्रजा और पशु, अग्नि, वायु और आदित्य, इत्यादि अनेक त्रिक इनके लक्ष्य अर्थ हैं । पृथिवी धारणाका, अन्तरिक्ष गतिका और द्युलोक प्रकाशका उपलक्षण है । धारणा जीवनका चिन्ह है, गति दुःखको दूर करनेका साधन है, क्योंकि आलस्य ही दुःखका मूल है, प्रकाश ज्ञानका चिन्ह होनेसे सुखका मूल है । दूसरे शब्दोंमें परमात्माकी जीवनदात्री, दुःखापहर्त्री और सुखकर्त्री शक्तियोंकी वाचक बनकर ये महाव्याहृतियां साधकको प्रभुके चरणोंमें लेजाने वाली हैं । इसीलिये इन्हें वेदोंका रस भी कहा है । इसी भावसे महर्षिदयानन्दजीने इनका अर्थ कहीं २ प्राणरूप, दुःखनाशक और सुखदायक भी किया है । यज्ञकी वेदी पृथिवीका ही रूप है । वहांपर बैठकर ही हृदयका विस्तार करना है । अग्निहोत्रका फलभी बतलाया है कि वृष्टिद्वारा अनाजकी अधिक उपज करनेवाला है ।

अर्थः—हे (अग्ने) उद्-बुध्यस्व) उठो, (प्रतिजागृहि) जागो । (त्वं) तुम (च) और (अयं) यह [यजमान] इष्टापूर्त्ते इष्ट और पूर्त्तको (सं, सृजेथां) मिलकर सम्पादन करो । (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्) उत्तम (सध-स्थे) इकट्ठा बैठनेके स्थान (अग्नि) पर (विश्वे) सारे (देवाः) देवता (च) और (यजमानः) यजमान [आप] (सीदत) बैठें ।

भावः—भौतिक अर्थ तो आसन लगाकर बैठना और आग प्रदीप्त करनाही है, पर आत्मिक प्रक्रियामें अविद्यासे निकलकर ज्ञानाग्निको जगानेका उपदेश है । साधक, निद्राको छोड़ो और चेतो । भौतिक अग्निहोत्रकी क्रियाके साथ आत्मिक अनुभवको मिलाओ और इष्टापूर्त्तको सिद्ध करो । निश्चय जानो, ऐसा करते रहनेसे सर्वोत्कृष्ट, प्रकाशमान लोकमें तुम्हारा उच्चसे उच्च देवताओंके साथ सहवास होगा । यज्ञद्वारा देवताओंके सत्संगका अभ्यास करो ।

६. समिदाधान—जब अग्नि समिधाओंमें प्रविष्ट होने लगे, तो आठ २ अंगुलकी घृतमें डूबी हुई तीन समिधाओंको इन चार मन्त्रोंसे, दहिने । हाथसे पकड़ कर अग्निकुण्डमें डाला जावे, एक प्रथम मन्त्रसे, एक बीच वाले दो मन्त्रोंसे और तीसरी चौथे मन्त्रसे * ।

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व

* यह थोड़ासा मतभेदका विषय है । कुछ विद्वानोंका यह विचार है कि प्रथम मन्त्र यहां न पढ़ कर, शेष तीनसे ही क्रम से कार्य चलाया जावे । समार्त्त विधि होनेसे आचार्य दयानन्दका ही अनुसरण करना ठीक समझा है ।

चेद्व वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनाम्नाद्येन
समेधय, स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे, इदन्न मम ॥ १ ॥

आखलायन गृह्य० १।१०।१२ ॥

अर्थ:—हे (जातवेदः) सर्व ऐश्वर्य्यके स्वामिन् (अग्नयं)
यह (इध्मः) काष्ठ (ते) तेरा (आत्मा) जीवन है ।
(तेन) इसके द्वारा (इध्यस्व) प्रकाशित हो (च)
और (वर्धस्व) बढ़ । (इत्-ह) निश्चय करके (अस्मान्)
हमें (च) भी (वर्धय) बढ़ा । (प्रजया) प्रजा (पशुभिः) पशुओं
(ब्रह्मवर्चसेन) ज्ञानके तेज (अम्नाद्येन) हज़म करनेकी शक्ति
द्वारा (सम-एधय) उन्नति करा । (स्वाहा) मन, वचन और कर्मसे
हम यह ठीक कहते हैं (इदं) यह [हवि] (जातवेदसे) सर्व
धनके स्वामी (अग्नये) अग्निकेलिये [समर्पित] है । (इदं)
इसपर (मम) मेरा [अधिकार] (न) नहीं है ।

भाव:—अग्नि सब ऐश्वर्य्योंका मुख्य साधन है, पर
साधकने तो पूर्व कहे प्रकारसे परमाग्नि, परमात्माका ध्यान करके
आत्मचिन्तन करना है । यह काष्ठ इस आग का आधार है, पर
वह परम अग्नि तो पत्ते २ का आधार बनी हुई है । आर्य्य जीवन
सांसारिक तथा पारलौकिक ऐश्वर्य्यकी कामना करता है ।
साधककी कक्षानुसार उसकी रुचि बदलती रहती है, पर
साधारणतया, प्रत्येक मनुष्यकी यह कामना होनी चाहिये कि
मेरा शरीर उन्नत हो, ज्ञान बढ़े, यशस्वी बनूं और उपकार करता
रहूं । इन कामनाओंका संकेत आहुति देते हुए आत्मसमर्पणके
भाव द्वारा कराया जाता है । साधकको चाहिये कि पूर्व प्रकरणोंमें

कहे भावोंके अनुसार, एक २ आहुतिको स्वर्गप्राप्तिका साधन बनावे । प्रभुकी रचनामें प्रत्येक छोटा और बड़ा देवता यज्ञ कर रहा है, तो मैं क्यों छः २ मासे घी डालकर 'मेरा' २ करके तुच्छ बनूं । क्यों न देवताओंके मण्डलका सदस्य बनूं । एक हाथसे दूँ और दूसरेको पता भी न हो । यह भाव आहुतिके साथ २ पैदा करो ।

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन्
हव्या जुहोतन स्वाहा । इदमग्नये, इदन्न मम ॥ २ ॥

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये
जातवेदसे स्वाहा । इदमग्नये-इदन्न मम ॥ ३ ॥

तन्त्वा समिद्धिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि । बृहच्छोचा
यविष्ठय स्वाहा । इदमग्नयेऽगिरसे-इदन्न मम ॥ ४ ॥

यजु० ३ । १, २, ३ ॥

अर्थः—[हे यजमानो] (अतिथि) नित्य गतिशील
(अग्निको) समिधाद्वारा (दुवस्यत) पूजो, (घृतैः) घृतद्वारा
(बोधयत) जगाओ । (आस्मिन्) इस [आग] में (हव्या)
होमने योग्य [पदार्थ] (आ-जुहोतन) होमो ॥ २ ॥

(सु-सम-इद्धाय) अच्छे प्रकार प्रकाशित (शोचिषे)
चमकती हुई (अग्नये) अग्निके निमित्त (तीव्रं) तीक्ष्ण (घृतं)
घीको (जुहोतन) होमो । [स्वाहा आदिका भाव पूर्ववत्
समझ लेना] ॥ ३ ॥

हे (अंगिरः) सर्वत्र प्राप्त होने वाले (यविष्ठय) सदा
युवा रहने वाले, [अर्थात् पदार्थोंको अत्यधिक तोड़ने फोड़ने

वाले] (तं) इस प्रकारके (त्वा) तुभको (घृतेन) घृतसे (वर्धयामसि) हम बढ़ाते हैं । (बृहत्) खूब (शोच) चमक । शेषभाव पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भावः—घृत तीव्र होना चाहिये । शुद्ध घृतकी दी हुई आहुति बड़ा अद्भुत प्रभाव रखती है । इसका विवेचन दूसरे अध्यायमें किया जा चुका है । हे साधक, भौतिक आगके साथ आत्मिक ज्योतिको भी जगा । उसका घृत तुम्हारी बहती हुई श्रद्धा होगी । उसका प्रकाश तुम्हारा ज्ञान होगा श्रद्धा और ज्ञान से सुभूषित होकर, आत्मयाजी बन और अपनी महिमाको समझ । अपना संबंध अपनेसे भी बड़ी सत्ताके साथ जोड़ । वह भी अग्निस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, नित्यअखण्डैकरस है ।

७. प्रज्वालन—अब अग्निको भली भान्ति प्रज्वलित करनेके लिये, घृतका पात्र सामने रखो । घीको उष्ण करके शुद्ध करलो । सुगन्धि मिलालो । अब निम्नलिखित मन्त्रसे पांच आहुतियां दो ।

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्ध-
स्व चेद्वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन
समेधय स्वाहा । इदमग्नये जातवेदसे इदन्नमम ॥

अर्थः—पूर्व किया जा चुका है । वहींसे देख लेना चाहिये* ।

* ऋषि दयानन्दने कहींपर घृतके साथ अलग सामग्रीकी आहुतिका विधान नहीं किया । परन्तु अब यह परिपाटी पड़ चुकी है, और इसे बदलनेमें विशेष लाभभी कोई नहीं । आने वाले स्विष्टकृतके साथ ही एक पात्रमें घी और एकमें सामग्री रखी जाती है । हां, जहां एकही व्यक्ति होम करने वाला हो, वहां थोड़ीसी सामग्रीका घृतमें ही डाल देना अच्छा होगा । आहुति-शेष जल वाले छोटे पात्रमें डालते जाना चाहिये ।

८. परिखा विधि:—तय्यारीमें अन्तिम कार्य परिखा अर्थात् कुण्डके चारों ओर बनी हुई खाईमें जलका प्रक्षेप करना है । पूर्व मन्त्रोंमें वेदीको पृथिवीरूप कहा गया था । इस संकेतसे उस अलंकारको पूर्ण किया जाता है । पृथिवी चारों ओर सागरोंसे घिरी हुई है । यह वेदी भी इसी प्रकार चारों ओरसे जल द्वारा घिरी हुई है । साधक, इस कुण्डमें जो आहुति दान करनेका कर्म करोगे, उसे बड़ी वेदी अर्थात् पृथिवीपर भी चरितार्थ करना । अपने जीवनमें जितने प्राणियोंका उपकार कर सको, करो । दूसरा संकेत दुर्गका है । दुर्गके चारों ओर बनी हुई परिखा, शत्रुओंको दूर रखती है । यज्ञमें भी कृमि, कीट आदि जन्तु कुण्डमें जा नहीं सकते । अग्निके तापसे, जो प्राणी कुण्डमें पूर्व विद्यमान थे, वे इस विधिसे पहिलेही निकल जाते हैं । तीसरे, इस परिखाका जल तापको कुछ कम करके, होता लोगोंको सुख देता है और कई अनभीष्ट वायुओंको अपने अन्दर लीनभी कर लेता है । इसका विस्तार दूसरे अध्यायके भौतिक प्रकरणोंमें होचुका है । चौथा और सबसे बड़ा सांकेतिक लाभ यह है कि यजमान यज्ञ करता हुआ अपने आपकी संसारके मोहमायाके जालसे अलग, कटा हुआ अनुभव करे । जैसे दो देशोंके मध्यमें नदी आकर उन्हें पृथक् कर देती है, ऐसेही यह जल संसार और परमार्थके मध्यमें वियोजक बनता है । ममता और अहंकारको दूर रखकर, आसुरी वृत्तियोंको दबाकर, कर्त्तव्य बुद्धिसे युक्त होकर, प्रभु चरणोंमें पहुंचनेके भावसे प्रेरित होकर, यज्ञ करना इस संकेतका आध्यात्मिक और सर्वोत्कृष्ट फल होसकता है । जल-प्रक्षेपके मन्त्र यह हैं—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥ १ ॥

इससे दक्षिणसे पूर्व ।

ओम् अनुमते ऽनुमन्यस्व ॥ २ ॥

इससे पश्चिमसे उत्तर ।

ओम् सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥ ३ ॥

इससे उत्तरसे पूर्व ।

गोभिलगृह्य० ३। १—३ ॥

अर्थः—हे (अदिते) अखण्डव्रतोंके स्वामिन, आप [हमें सबे भावसे युक्त होकर होम करनेकी] (अनु-मन्यस्व) अनुमति दें ॥ १ ॥

हे (अनुमते) सबको अपनी आज्ञामें चलानेवाले ईश्वर, [आप हमें] (अनु-मन्यस्व) आज्ञा दें [अर्थात् हम आपके आदेशानुसार कर्ममें प्रवृत्त हों] ॥ २ ॥ [सरस्वति] हे ज्ञानस्वरूप प्रभो, आप हमें (अनु-मन्यस्व) अनुकूल मति प्रदान करें ।

भावः—कर्ममें सफल होनेके तीन दर्जे हैं, उनका ही इन मन्त्रों द्वारा संकेत समझना है । (१) व्रत अखण्ड हो, (२) प्रभु-आज्ञाका पालन हो । (३) ज्ञानद्वारा उस आदेश और व्रतको समझ लिया जावे । प्रभुके विश्वासके बिना त्याग-धर्मके पालनके लिये कोई और प्रेरणा नहीं है । भगवान्‌का सहारा ही हमें ऐश्वर्य उपार्जन करके उसके त्याग करनेपर बाधित कर देता है । हवनका अर्थ ही त्याग है । इन मन्त्रों द्वारा इन बातोंको साधकके हृदयपर अंकित हो जाना चाहिये ।

इस प्रकार तीन ओर जल छिड़ककर, अगले मन्त्रसे चारों ओर छिड़कें ।

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्न पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः
स्वदतु । यजु० ३०।१।

अर्थः—हे (सवितः) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (देव) प्रकाशस्वरूप भगवन्, (यज्ञं) यज्ञको (प्र-सुव) अच्छे प्रकार सम्पादन कराइए । (यज्ञ-पतिं) यज्ञके करनेवाले यजमानको (भगाय) ऐश्वर्यके लिये (प्र-सुव) प्रेरित कीजिए । (दिव्यः) तेजस्वी (गन्धर्वः) वाणीका धारण करनेवाला (केत-पूः) ज्ञानको पवित्र करनेवाला जगदीश्वर (नः) हम सबकी (केतं) बुद्धिको (पुनातु) पवित्र करे । (वाचस्पतिः) विद्याका रक्षक (नः) हमारी (वाचं) वाणीको (स्वदतु) मीठा बनावे, [ताकि लोग उसे पसन्द करें] ।

भावः—इस प्रकार पवित्र तथा बलवती बुद्धिसे युक्त होकर, प्रभुके विश्वव्यापी यज्ञका ध्यान करते हुए, श्रद्धापूर्वक अपनी सामर्थ्यानुसार नित्य अग्निहोत्रके कर्ममें सब साधक लोग प्रवृत्त हों । धर्मका कार्य करो, परन्तु पत्थरकी भान्ति फेंक मत दो । यत्न करो कि आपकी मिठाससे प्रभुभी प्रसन्न हो और जनतापर भी अच्छा प्रभाव पड़े ।

९. आधारावाज्यभागाहुति—

पहिले मन्त्रसे उत्तर भागमें, दूसरेसे दक्षिणभागमें, आहुतियां दें । इन दोनोंका गृह्यसूत्रोंमें नाम 'आधारावाज्याहुति' आया है । फिर अगले दो मन्त्रोंसे कुण्डके मध्यमें आहुतियां दें । इनका नाम 'आज्यभागाहुति' है । 'आज्य' धीको और

‘आधार’ पिघलानेको कहते हैं । इस लिये भाव यह है कि पिघले हुए घीकी प्रचण्ड अग्निपर चमचा भर २ कर आहुति देते जावें । वे चार मन्त्र क्रमसे ये हैं:—

ओम् अग्नये स्वाहा । इदमग्नये-इदन्नमम ॥ १ ॥

यजु० २२ । २७ ॥

ओं सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय-इदन्न मम ॥ २ ॥

यजु० २२ । २७ ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा । इदं प्रजापतये-इदन्नमम् ॥ ३ ॥

यजु० १८ । २८ ॥

ओम् इन्द्रायस्वाहा * । इदम् इन्द्राय-इदन्नमम ॥ ४ ॥

यजु० २२ । २७ ॥

अर्थ:—(अग्नये) अग्निस्वरूप, प्रकाशमान भगवान् [की प्राप्ति तथा प्रसन्नताके उद्देश्यसे] (स्वाहा) श्रद्धापूर्वक आहुति देता हूँ ॥ १ (सोमाय) सोमस्वरूप, सर्व जगतमें रस, मिठास और शान्तिका विस्तार करने वाले भगवान् के निमित्त मैं इस आहुतिको देता हूँ, इत्यादि पूर्ववत् ॥ २ ॥ (प्रजापतये) प्रजाके पालन कर्त्ता भगवान् के निमित्तसे—शेष पूर्ववत् ॥ ३ ॥ (इन्द्राय) सब पेश्वयों और विभूतियोंके अधिष्ठाताको प्राप्त होनेके भावसे युक्त होकर, ममताको छोड़कर, यह आहुति सच्चे हृदयसे समर्पित करता हूँ ॥ ४ ॥

भाव:—अग्नि, सोम, प्रजापति और इन्द्र यह आत्मिक विकासके चार दर्जोंके संकेत जानो । पहिले ज्ञानका प्रकाश हो ।

* इन चार आहुतियोंका क्रम सूत्रग्रन्थोंमें भिन्न प्रकारसे भी है, परन्तु आचार्य-प्रमाणित होने तथा अर्थकी ठीक संगति होनेसे यही क्रम ठीक है ।

उसके साथ हितेच्छा भाव और प्रेरणा, पुरुषार्थका भाव हो । दोनों गुणोंका उपयोग प्रजाके पालनमें हो । फिर कभी होसकता है कि आत्मा इन्द्र न बने ? लोकमें वही राजा ऐश्वर्यशाली होगा, जो इसी क्रमसे बुद्धिपूर्वक, प्रेम और पुरुषार्थसे युक्त होकर, अपनी प्रजाके पालन और शिक्षणमें लगा रहता है । वह उन्हें मनुष्य बनाकर अपनी भुजाएं बनाना जानता है । उसका बल उनके बलमें होता । प्रभु इन्हीं गुणोंके प्रतापसे सारे संसारका राजा है । अग्नि आदि उसके अपने स्वरूपके ही बाह्य संकत हैं । जो साधक आध्यात्मिक क्षेत्रमें इन गुणोंको अर्थात् प्रकाश, मिठास, लोकहितको अपनाएगा, अवश्य एक दिन वह परम सिद्धिको प्राप्त होगा । इस प्रकार इन भावोंसे युक्त होकर, साधक सायं अथवा प्रातःकी आहुतियां देवे ।

छटा प्रकरण

दैनिक अग्निहोत्र ।

१. इस प्रकार आचमन, अंग स्पर्श, अग्न्याधान, समिदा-धान, प्रज्वालन, जल-प्रोक्षण तथा आधारावाज्यभाग आहुतियोंको करके इन मन्त्रोंसे अग्निहोत्र करें ।

प्रातःकालके मन्त्र ।

ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥ १ ॥

ओं सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा ॥ २ ॥

ओं ज्योतिः सूर्यः सूर्योः ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥

यजु० ३।६ ॥

अर्थ:—(सूर्यः) सर्व-प्रेरक जगदीश्वर (ज्योतिः) प्रकाशमय है [और] (ज्योतिः) सकल प्रकाश (सूर्यः) सूर्यादि प्रकाशकोंके प्रकाशका ही बाह्य संकेत है । (स्वाहा) उस प्रभुके चरणोंमें आत्मा-समर्पण करो ॥ १ ॥

(सूर्यः) सर्वोत्पादक विभु (वर्चः) दीप्तिमय है [और] (ज्योतिः) जितनी दीप्ति जगत्में दिखाई देती है, (वर्चः) वह उसीका प्रकाश है । (स्वाहा) उसीके निमित्त अच्छी तरह आहुति दो ॥ २ ॥

(ज्योतिः) जितना प्रकाश है, वह (सूर्यः) सूर्य है । (सूर्यः) सूर्योंका सूर्य (ज्योतिः) प्रकाशरूप है, अर्थात् प्रभुको श्रेष्ठ प्रकाशयुक्त समझते हुए, सब सूर्यादिमें उसीकी ज्योतिका दर्शन करते हुए (स्वाहा) स्व=अपनी (अहा) रक्षा करो । इसके लिये सच्ची भक्ति और श्रद्धा ही साधन है ॥ ३ ॥

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्याजुषाणः सूर्यो
वेतु स्वाहः ॥ ४ ॥ यजु० ३।१० ॥

अर्थ:—(देवेन) प्रकाशमान (सवित्रा) प्रेरक [अस्तमयके आदित्य] के साथ (सजूः) तुल्यप्रीतिसे युक्त [तथा] (इन्द्र-वत्या) ऐश्वर्यप्रद विभूतिसे युक्त (उषसा) प्रातःकालकी लालीके साथ (सजूः) समान प्रीतियुक्त (सूर्यः) सूर्य (जुषाणः) सेवन होता हुआ (वेतु) प्राप्त हो । (स्वाहा) यह वाणी सत्यहो ।

भावः—रात्रिको दीपक जलते हैं और तारागण चमकते हैं । परन्तु प्रातः होते सूर्यके अन्दर सबका प्रकाश लीन हो जाता है । सूर्य दो मुख्यरूपोंमें हमारे सामने आता है । उदय तथा अस्तके समयके सूर्योंकी ज्योति और प्रातःकालीन लालीकी

पेश्वर्य वर्धिनी प्रेरणा मिलकर एक सर्वांगपूर्ण प्रकाशमयी विभूति बनती है । इस विभूतिको देखकर इसके मूलकारण जगदीश्वर, सर्वप्रकाशकका ध्यान करते हुए आहुति देना है ।

२. सायंकालके मन्त्रः—

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिराग्निः स्वाहा ॥ १ ॥

ओम् अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वचः स्वाहा ॥ २ ॥

ओम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिराग्निः स्वाहा ॥३॥ यजु० ३६

इस तीसरे मन्त्रको मनमें ही पढ़ कर आहुति डाल दें ।

अर्थः—(अग्नि) अग्नि (ज्योतिः) ज्योति है (ज्योतिः)

जितना प्रकाश है (अग्निः) [वह अग्नि कीभी जो] अग्नि है [उसी की विभूति है ॥ १ ॥ (अग्निः) अग्नि (वर्चः) दीप्ति है (ज्योतिः) ज्योतिः-स्वरूप परमात्मा [ही की वह] (वर्चः) दीप्ति है ॥ २ ॥ तीसरा मन्त्र प्रथम मन्त्रके समान समझलें । मनमें उच्चारण करना ध्यानमें सहायतार्थ है । प्रायः कर्म करते रहतना अभ्यास हो जाता है कि मन कहीं और होता है और हाथ आहुति डाल रहा होता है इस मौनकी विधिका यह तात्पर्य है कि साधक स्वयं ही फिर विचारसहित कर्म करने लग जावे । आध्यात्मिक संकेतोंके ध्यानसे पूर्ण लाभ होता है ।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरान्येन्द्रवत्या जुषाणो
अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ यजु० ३।१।

अर्थः—(देवेन) प्रकाशमान (सवित्रा) सर्व-प्रेरक [प्रभुकी सायंकालके आदित्यके रूपमें वर्तमान विभूति] के

साथ [तथा] (इन्द्रवत्या) ऐश्वर्ययुक्त (राज्या) रात्रिके साथ (सजुः) समान प्रीतियुक्त (जुषाणः) सेवनकी जाती हुई (अग्निः) आग [उसमें प्रकाशमान प्रभु] (वेतु) प्राप्त हो । (स्वाहा) यह कर्म सफल हो ।

भावः—सविता मानो, अस्त होता हुआ, अग्निका रूप धारण कर लेता है । रात्रिको अग्निही उसका प्रतिनिधि होता है । विश्राममयी रात्रि जीवन-ज्योतिको एक प्रकारसे पुनः चमकने योग्य बनाती है । अतः वह ऐश्वर्यकी दात्री है । इस प्रकार रात्रिद्वारा तथा सवितृयुक्त अग्निद्वारा प्रकाशमान विभूतिवाले जगदीश्वरका ध्यान करते हुए आहुति डालें ।

३. प्रातः और सायं दोनों कालके मन्त्र ।

ओं भूर्भुवः प्राणाय स्वाहा । इदमग्नये प्राणाय इदन्न-
मम ॥१॥ ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा । इदं वायवेऽपा-
नाय इदन्नमम ॥२॥ ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ।
इदमादित्याय व्यानाय इदन्नमम ॥३॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्नि-
वाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा । इदमग्निवाय-
वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः इदन्नमम ॥४॥

अर्थः—(भूः) सर्वाधार (अग्नये) प्रकाशस्वरूप (प्राणाय) जीवनप्रद भगवान्के लिये—शेष पूर्ववत् ॥१॥ (भुवः) आलस्य दूर करने वाले (वायवे) गतिमान (अपानाय) दुःखनाशकके लिये—शेष पूर्ववत् ॥२॥ (स्वः) प्रकाश स्वरूप (आदित्याय) अखण्डरूप (व्यानाय) सर्वव्यापकके लिये—शेष पूर्ववत् ॥३॥ (भूः) सर्वाधार (भुवः) आलस्यनिवारक (स्वः) प्रकाशस्वरूप

(अग्निवायु-आदित्येभ्यः) अग्नि, वायु और आदित्यरूपी विभू-
तियोंके आधार (प्राण-अपान-व्यानेभ्यः) जीवन, दुःखनाश
तथा व्यापकताके भावोंसे युक्त भगवान्के प्रति यह श्रद्धा पूर्वक
(स्वाहा) आहुति देता हूँ । यह अग्न्यादि सर्वोपकारक
देवताओं तथा प्राणादि सर्वप्रिय गुणोंके विस्तारकेलिये आहुति
देता हूँ । (इदं न मम) इस पर मेरा कोई स्वत्व या अधिकार
नहीं । प्रभो, स्वीकार करो, स्वीकार करो और मेरे आत्माको
पूर्णतया विकसित बनाओ ॥४॥

५. ओम् आपो ज्योती रसो ऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः
स्वरो स्वाहा ।

(आपः) सर्वव्यापक (ज्योतिः) प्रकाशरूप (रसः)
रसरूप (अमृतं) अमृत (ब्रह्म) सबसे बड़ा (भूः) सर्वाधार
(भुवः) गतिमान् (स्वः) सुखप्रद (ओं) सर्वगुणसम्पन्न
प्रभुके चरणोंमें यह हवि (स्वाहा) समर्पित करता हूँ ।

ओं यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते । तथा मामद्य
मेधयाऽग्रे मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥६॥ यजु० ३२ । १४ ।

(यां) जिस (मेधां) धारणावती बुद्धिकी (देव-गणाः)
विद्वानोंके समुदाय (च) और (पितरः) पूज्य, रक्षक सज्जन
(उप-आसते) उपासना करते हैं । (अग्ने) प्रकाशस्वरूप
भगवन् (तथा) उसी (मेधया) मेधासे (अद्य) अब (मां)
मुझे (मेधाविनं) युक्त, बुद्धिमान् (कुरु) बनाइए, (स्वाहा)
ताकि सत्यका मनन, वचन तथा आचरण करता रहूँ ।

ओं विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रन्तन्न
आसुव स्वाहा ॥७॥ यजु० ३० । ३ ।

ओम् अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव
वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते
नम उक्तिं विधेम स्वाहा ॥ ८ ॥ यजु० ४० । १६ ।

इन मन्त्रोंका अर्थ इसी अध्यायके आरंभमें किया जा
चुका है । उन भावोंसे युक्त होकर दो आहुतियां डालें ।

४. इस प्रकार प्रातः और सायं समयकी बारह २ आहु-
तियां होती हैं । चार आघारावाज्य भाग आहुतियां मिला कर
सोलह २ आहुतियां दिया करें । विधि इतनी ही है, परन्तु
यदि सामग्री अधिक शेष रहे, तो गायत्री मन्त्र द्वारा आहु-
तियां दे सकते हैं । इस प्रकार करके, अन्तमें इस मन्त्रसे
तीन बार पूर्णाहुति दें ।

ओं सर्व वै पूर्णं स्वाहा ॥

अर्थ:—(ओं) प्रभुकी कृपासे (वै) निश्चय करके
(सर्व) सब कर्म (पूर्ण) पूर्ण [होता है] । (स्वाहा) भग-
वन्, मेरी श्रद्धा स्थिर रहे ।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

हे भगवन् सर्व प्रकारकी शान्ति दीजिए । आध्या-
त्मिक अर्थात् अविद्या द्वारा जो दुःख होते हैं, वे दूर हों ।
आधिदैविक, अर्थात् जल, वायु आदि द्वारा या इन्द्रियोंकी
चंचलता द्वारा जो दुःख होते हैं, वे दूर हों । और प्राणियों
द्वारा होने वाले आधिभौतिक दुःख दूर हों ।

सातवां प्रकरण

शेष सामान्य प्रकरण ।

१. सामान्य प्रकरणके दो भाग हैं। पहिला भाग जो पञ्चम प्रकरणमें दिया जा चुका है, नित्य अग्निहोत्र-तथा अन्य संस्कारोंमें प्रधान होमसे पूर्व पढ़ा जाता है। दूसरा भाग, जिसका अब वर्णन होगा, अग्निहोत्रसे पूर्व प्रयुक्त नहीं होता। मुख्य २ संस्कारोंमें प्रधान होमसे पूर्व इसे पढ़ा जाता है। सामाजिक कार्यों, उत्सवादिमें भी सामान्य प्रकरण सम्पूर्ण पढ़ा जाता है। अतः इस भागकी भी व्याख्या की जाती है।

२. महाव्याहृति-आहुति—

ओं भूरग्नये स्वाहा । इदमग्नये इदन्नमम ॥ १ ॥
 ओं भुवर्वायवे स्वाहा । इदं वायवे-इदन्न मम ॥ २ ॥
 ओं स्वरादित्याय स्वाहा । इदमादित्याय-इदन्न मम
 ॥ ३ ॥ ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा । इद-
 मग्निवाय्वादित्येभ्य इदन्नमम ॥ ४ ॥

अर्थः—(भूः) सर्वाधार (अग्नये) अग्निकेलिए (भुवः) दुःख नाशक (वायवे) वायु समान व्यापकके लिए, (स्वः) सुखस्वरूप (आदित्याय) प्रकाशस्वरूपके लिए, इन सब गुणोंसे युक्त प्रभुके लिए [उसकी प्रीति का

भाजन बननेके भावसे] (स्वाहा) सञ्चे हृदयसे आहुति देता हूं । प्रभु स्वीकार करे । शेष विस्तार पहिले प्रकरणोंमें हो चुका है ॥ १-४ ॥

३. स्विष्टकृत आहुति—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् ।
अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे ।
अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां
समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान् समर्धय स्वाहा । इदमग्नये
स्विष्टकृते, इदन्न मम* ॥

(यत्) जो (अस्य) इस (कर्मणः) कर्मके संबंधमें
(अति-अरीरिचं) विधिसे अधिक कर चुका हूं, (वा) या
(इह) इसमें (न्यूनं) कम (अकरं) कर बैठा हूं । (स्विष्ट-
कृत्) यज्ञको पूर्ण करने वाला (अग्निः) भौतिक और
आत्मिक अग्नि (मे) मेरा (तत्) वह (स्विष्टं) अच्छे
प्रकार यज्ञ किया हुआ (सुहुतं) अच्छे प्रकार होमा हुआ
(करोतु) करे । (अग्नये) अग्निके लिये (जो) (स्विष्टकृते)
यज्ञको ठीक बनाने वाला (सुहुतहुते) आहुतिको ठीक करने
वाला [और] (सर्व-प्रायश्चित्त-आहुतीनां) सारी पापकी
प्रतीकाररूप आहुतियोंका (कामानां) सब कामनाओंका

* इसी प्रकार का मन्त्र शत० १४।९।४।२४ ॥ आपस्तम्ब गृह्य०
१।२।७ ॥ में संक्षिप्त रूपसे आया है । पारस्कर और हिरण्यकेशीमें
केवल इतना भेद है कि विद्यात्के स्थानपर 'विद्वान्' है ॥

(समर्धयित्रे) सफल करने वाला है, [यह आहुतिदे रहा हूँ] ।
[हे अग्ने] (नः) हमारी (सर्वान्) सारी (कामान्) काम-
नाओंको (समर्द्धय) परिपूर्ण करो (स्वाहा) यह मेरी वाणी
सत्य हो । यह स्विष्टकृत् अग्निकेलिए समर्पण कर चुका हूँ, इसपर
मेरा कोई स्वत्व नहीं है ॥ ५ ॥

भावः—त्रुटि या अशुद्धिका हो जाना मनुष्यके स्वभावमें
है । अतः कर्म करके सदा पूर्णतया आत्म समर्पण करना
चाहिण । भगवान् ही हमारी त्रुटिको पूरा कर और करा
सकते हैं । इस मंत्रको कुछ विद्वान् अग्नि होत्रके अन्तमें
पढ़ते हैं । परन्तु ऋषि दयानन्दजीने एक प्रकारसे सामान्य
कर्मके अन्तमें ही रखा है । अगले आज्याहुतिके मन्त्र विशेष
विशेष समयोंपर ही पढ़े जाते हैं ॥ ५ ॥

४. प्रजापत्याहुति—

ओं प्रजापतये स्वाहा । इदं प्रजापतये—इदन्न
मम ॥ ६ ॥

अर्थः—पूर्वहो चुका है । यह मन्त्रभी मनमें ही पढ़ना
है । मौनका लाभ पूर्व प्रकरणमें साधन विषयमें बतलाया गया
था । उसके अतिरिक्त प्रजापति नाम परमात्माका है । उसका
कोई परिच्छेद नहीं हो सकता । परिमित वाणी द्वारा उसका
वर्णन नहीं हो सकता । इस प्रकारका भाव हृदयमें पैदा करके
अन्तरात्मामें साक्षात् करनेका यत्न करना है । देखो, शत०
१।६।१।२० ॥ पे० ब्रा० ६।२० ॥ तै० ब्रा० १।३।
८।५ ॥

५. अब प्रधान होम सम्बन्धी चार आहुतियां इन मंत्रोंसे दें ।

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्ज-
मिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा । इदमग्नये
पवमानाय-इदन्न मम ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६६ । १६ ॥

अर्थः—हे सर्वाधार, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, (अग्ने)
प्रकाशस्वरूप भगवन्, (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनोंको
(पवसे) पवित्र करते तथा बढ़ाते हो । [हमें] (ऊर्ज) बल
(च) और (इषं) अन्न (आ-सुव) प्रदान करें । (दुच्छुनां)
राक्षसोंको (आरे) दूर (बाधस्व) दबाओ । (स्वाहा) मेरी
यह बाणी सत्य हो । (इदं) यह हवि (पवमानाय) पवित्र
करनेवाले अग्निस्वरूप प्रभुकेलिये है, मेरा इसमें कोई
विशेष स्वत्व नहीं ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्निर्ऋषिः पवमानः पांचजन्यः
पुरोहितः । तमीमहेमहागयं स्वाहा । इदमग्नये पवमानाय-
इदन्नमम ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ६६ । २० ॥

अर्थः—(अग्निः) अग्नि (ऋषिः) सबका देखनेवाला
(पवमानः) पवित्र करनेवाला (पांचजन्यः) ब्राह्मण, क्षत्रिय,
वैश्य, शूद्र और आर्य वर्णसे बाहिर भी सब प्रजाओंके
पालन करने वाला (पुरोहितः) सब धार्मिक कार्योंमें प्रमुख
होकर सहायता करने वाला (महागयं) अत्यन्त बलवान है ।

(तं) उसे (ईमहे) सर्व धर्म कर्मकी सफलताकोलिए प्राप्त होते हैं ।

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः
सुवीर्यम् । दधद्रयि मयि पोषं स्वाहा । इदमग्नये पवमानाय
इदन्न मम ॥३॥ ऋ० ९ । ६६ । २१ ।

अर्थः—हे सर्वाधार, दुःखापहारक, सुखस्वरूप (अग्ने)
प्रकाशमान प्रभो, [आप] (सु-अपाः) अच्छे कर्मोंके अधिष्ठाता
हैं । [आप] (अस्मे) हममें (वर्चः) तेज (सुवीर्य) पूर्ण बल
(रयि) ऐश्वर्य (पोषं) पुष्टि (मयि) मुझमें (दधत्) धारण
करते हुए (पवस्व) पवित्र करें ।

भावः—निर्बल, निर्धन, निस्तेज, क्षीण पुरुषको पवित्रताका
अर्थही समझमें नहीं आसकता । इसलिये हे साधक, आहुति
डालतेहुए अपने जीवनको ठीक बनानेका भी संकल्प करो ।
प्रभुकी प्रीतिकेलिये ऐसा करना आवश्यक है ।

ओं भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा
जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु
वयं स्याम पतयोरयीणाम् ॥ इदं प्रजापतये-इदन्नमम ॥४॥

ऋ० १० । १२१ । १० ॥

अर्थः—इस अध्यायके आरम्भमें अर्थ होचुका है । उसे
धारण करके, विधिपूर्वक आहुति दें ।

६. साधारण हवनमें तथा अन्य संस्कारोंमें विशेष २
अवसरपर निम्न लिखित आठ आज्याहुतियां इन आठ मन्त्रोंसे
दिया करें ।

ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडोऽवया-
सिसीष्ठाः । यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वाद्वेषांसि
प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा ॥ इदमग्निवरुणाभ्यामिदं न मम ॥ १ ॥

ऋ० ४ । १ । ४ ॥

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूपप्रभो, (त्वं) आप
(विद्वान्) सब कुछ जानने वाले हैं । [इस लिये आप] (नः)
हमारे सम्बन्धमें (देवस्य) कान्तियुक्त (वरुणस्य) सर्वव्या-
पक प्रभुके (हेडः) क्रोधको (अव-यासिसीष्ठाः) शान्त करें ।
[आप] (यजिष्ठः) सबसे अधिक यज्ञ करने और कराने वाले
पूज्य देव (वह्नितमः) सबसे अधिक प्राप्तिके कराने वाले,
(शोशुचानः) अत्यन्त दीप्त स्वभाव हो । (अस्मत्) हमसे
[प्रभो] (विश्वा) सकल (द्वेषांसि) द्वेषों [और द्वेषके बीज
पापों] को (प्र-मुमुग्धि) पृथक् करें । (इदं) यह हवि (अग्नि-
वरुणाभ्यां) अग्नि और वरुण [स्वरूपों*] के लिये है, (इदं)
यह (मम) मेरी (न) नहीं है ।

* क्रोध करने वाला वरुण और उसे शांत करने तथा द्वेष और पाप
हटानेवाला अग्नि कौन हैं? यह पूर्व निर्णय हो चुका है कि भौतिक देवताओंके
आगे प्रार्थनादि करना वेदके आशयके विरुद्ध है । पूजादिके सम्बन्धमें अलग-
चेतन देवताओंका मानना भी ऋषियोंको स्वीकृत नहीं । उदाहरणके लिये
अग्निको ही लीजिए । ईशावास्योपनिषत् सर्वव्यापक परब्रह्मका वर्णन करती
हुई, अन्तमें अग्निके आगे झुकनेका उपदेश करती है । वह अग्नि अवश्य पर-
ब्रह्मका ही वाचक है । वहींपर उससे पूर्व पूषादि अनेक द्वारा उसीका संकेत
किया गया है । इसलिये नानादेवतावादके अनुसार अग्निका हवि लेजाकर
वरुणको देना और उसका शांतिको पाना केवल वैदिक ऋषियोंके साथ उप-

ओं स त्वन्नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या
उषसो व्युष्टौ । अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृडीकं
सुहवो न एधि स्वाहा । इदमग्निवरुणाभ्याम्-इदन्नमम ॥ २ ॥

क्र० ४ । १ । ५ ॥

अर्थः—(सः) इस प्रकारके (त्वं) आप हे (अग्ने) ज्ञानस्व-
रूप प्रभो, (नः) हमारे प्रति (ऊती) रक्षाद्वारा (अवमः) समीपवर्त्ती

हास करना है । पापकी निवृत्तिके लिये परमात्मासे ही प्रार्थनाएँ की जाती हैं । सब आहुतियाँ उसीके उद्देश्यसे दी जाती हैं । इसलिये अचानक इस प्रकारके मन्त्रोंमें अग्नि शब्दसे या वरुण शब्दसे एक ओर तो परमात्माका और दूसरी ओर राजादिका अर्थ करना विद्वानोंको रुचिकर प्रतीत नहीं होसकता । अर्थ जब दोनों शब्दोंका परमात्मा है, तो एक परमात्मा है, तो एक परमात्मा दूसरे परमात्माका क्रोध कैसे शांत करे, यह समझना शेष रहता है । परमात्मा एक है, दो या अधिक नहीं । परन्तु विभूति-भेदसे उसके बाह्य प्रकाश अनेक हैं । अग्नि-विभूति भौतिकरूपसे आग तथा आध्यात्मिकरूपसे ज्ञानके प्रकाशका संकेत करती है । वरुण-विभूति भौतिकरूपसे जल और आध्यात्मिकरूपसे सर्वव्यापकताको प्रकट करती है । एक ओर ध्यान करनेसे सर्वज्ञता और दूसरी ओर ध्यान करनेसे सर्वव्यापकताका भाव स्थिर करना है । दोनों भाव आत्मिक विकासके लिये आवश्यक हैं, अतः हवि भी दोनोंका संकेत करके दी गई है । न दो देवना हैं और न दो परमात्मा हैं । सर्वव्यापकताको भूलकर ही मनुष्य निर्भय सा होकर पाप करता है और वरुण क्रुद्ध होता है । सर्वज्ञताकी उपासनासे ज्ञान प्राप्त होता है, पाप दूर होता और वरुणका, क्रोध शांत होजाता है । इन्हीं दो रूपोंमें, अर्थात् ज्ञान द्वारा सर्वव्यापकताको समझना ज्ञानसे द्वेषको दूर करना और प्रभुकी कृपाका पात्र बनना ही इस मन्त्रका उद्देश्य है । जहां २ वेदमन्त्रोंमें द्विवचन या बहुवचनमें प्रार्थना पाई जावे, वहां पर प्रक्रियाकी गड़बड़के स्थानपर विभूति-भेदसे नानारूपताका आश्रय करके व्याख्या करना ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है ।

(भव) हों [और] (अस्याः) इस (उषसः) उषाके (व्युष्टौ) प्रकाशमें (नेदिष्टः) अति समीपवर्ती [हों] । (रराणः) दान-युक्त होकर (नः) हमारे प्रति (वरुणं) सर्वव्यापक प्रभुको (अव-यक्ष्व) प्रसन्न कीजिए (मृडीकं) सुखके देनेवाली हविकां (वीहि) स्वीकार करें । (नः) हमें (सुहवः) आसानीसे बुलाये जा सकनेवाले (एधि) बनें * ।

भावः—ज्ञानस्वरूप परमात्माकी आराधनासे पापसे परे रहकर सर्वव्यापक प्रभुकी प्रसन्नताके पात्र बनो ।

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय । त्वाम-
वस्युराचके स्वाहा । इदं वरुणाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥

क्र० १ । २५ । ९ ॥

अर्थः—हे (वरुण) सर्वव्यापक, वरणीय प्रभो, (इमं) इस (मे) मेरी (हवं) टेरको (श्रुधि) सुनिप (च) और

* मन्त्रोंका भाष्य करते हुए और अपनी बुद्धिके अनुसार उलझनोंको सुलझाते हुए, लेखकने दूसरे भाष्यकारोंकी व्याख्याओंके प्रति जान बूझकर उपेक्षाको धारण किये रखा है, परन्तु आर्य जनताको यह सुनकर दुःख होगाकि हमारे विद्वानोंने व्यर्थ मक्खी पर मक्खी मारते हुए, बड़े उलटे अर्थ कर दिये हैं । विद्वान् सज्जनोंके प्रति, अपमानके भावसे नहीं, प्रत्युत दुःखित हृदयसे यह संकेत करता हूं । वे स्वयं समझ लें ।

ब्रुवन् संस्कारकौमुद्यां वरुणं पापरूपतः ।

सुहवंच बहुव्रीहिं भीमसेन न कम्पसे ॥ १ ॥

सायणानुगातिर्मूलं दोषस्यैतस्य ते यदि ।

तथाप्यकीर्त्तिबीजं स्याद् दयानन्देऽन्यथास्थिते ॥ २ ॥

आर्यलोक कब ऋषियोंकी इस पूंजीको ठीक तरहसे संभालेंगे ?

(अद्य) अब (सृडय) आनन्दित कीजिए । (अवस्युः) रक्षाका इच्छुक होता हुआ (त्वां) आपको (आ-चके) पुकारता हूँ । [स्वाहा] यह मेरा कथन सुफल हे । (इदं) यह (वरुणाय) वरुणके चरणोंमें भेंट है, (मम) मेरा कोई स्वत्व (न) नहीं ।

ओं तत् त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यज-
मानो हविर्भिः । अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न
आयुः प्रमोषीः स्वाहा । इदं वरुणाय-इदन्नमम ॥ ४ ॥

ऋ० १ । २४ । ११ ॥

अर्थः—(तत्) इसलिये (ब्रह्मणा) वेदमन्त्रों द्वारा (वन्दमानः) वन्दना करता हुआ (त्वा) आपकी (यामि) शरण पड़ा हूँ । (यजमानः) यज्ञशील साधक (हविर्भिः) आहु-
तियों द्वारा (तत्) इसीकी (आशास्ते) आशा करता है । हे (वरुण) सर्वव्यापक, वरणीयदेव, (अहेडमानः) [हमारी इस प्रार्थनाकी] अवहेलना न करते हुए (इह) इस [यज्ञ] में (बोधि) ध्यान दीजिए, हे (उरु-शंस) विस्तृत कीर्तिवाले, (नः) हमें (आयुः) (आयुको (मा) मत (प्रमोषीः) व्यर्थ खोने दीजिए ।

भावः—यजमानका यह लक्ष्य होना चाहिये कि सर्व-
व्यापक नियन्ताके नियमोंका पालन करता हुआ, अपने साधनको सफल करे ।

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता
महान्तः । तेभिर्नोअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः

स्वर्काः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो
देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदन्न मम ॥५॥

कात्यायनश्रौत० २५।१।११ ॥

अर्थः—हे (वरुण) सर्वव्यापक प्रभो, (ये) जो (ते)
तेरे [मायामय जगत्में] (शतं) सैंकड़ों (सहस्रं) हजारों
(यज्ञियाः) यज्ञके विषयमें (वितताः) फैले हुए (महान्तः)
बड़े २ [जटिल] (पाशाः) जाल हैं। (तेभिः) उनसे (अद्य)
अब (सविता) सर्वोत्पादक-विभूति [भौतिकरूपमें सूर्य और
आध्यात्मिकरूपमें पुरुषार्थ और प्रेरणा] (उत) और (विष्णुः)
चराचरमें व्यापक विभूति [भौतिकरूपमें दिनभर आकाशमें
चमकनेवाला सूर्य और आध्यात्मिकरूपमें सर्व कार्योंमें व्यापक
बल] (विश्वे) सकल (स्वर्काः) अच्छे स्तोत्रोंवाले (मरुतः)
मरुत् (भौतिक वायु, आध्यात्मिक प्राण और सामाजिक रूपमें
विद्वान् लोग] (नः) हमें (मुञ्चन्तु) छुड़ावें । *

भावः—विराट्-स्वरूप भगवान्की सूर्यादि बाह्य विभूतियों
द्वारा प्रेरणा, बल और प्रकाशको धारण करके साधकको धर्म
मार्गमें बिछे हुए जालोंको काटते जाना चाहिये ।

ओम् अयाश्वाग्ने ऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि ।
अयानो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजं स्वाहा ॥ इदमग्नये
अयसे इदन्न मम ॥ ६ ॥ कात्यायन श्रौत० २५।११ ।

*भिन्न देवताओंके निमित्त हवि देते हुए भी, पूर्वोक्त प्रकारसे साधकको
इन विभूतियोंके परम विभूतिमय स्वामी, जगदीश्वरका ही आत्मिक प्रेरणा
तथा संकल्पद्वारा चिन्तन करना चाहिये ।

अर्थः—हे (अग्ने) प्रकाशरूप भगवन्, आप (अयाः) सर्व व्यापक (च) तथा (अनभिश्चिन्ति-पाः) पुण्यात्माओंकी रक्षा करनेवाले (अलि) हो, (इत्) वस्तुतः (त्वं) आप (सत्यं) सब्ब प्रकारसे (अयासि) प्राप्त हों । (अयाः) चराचरमें विद्यमान होकर (नः) हमारे (यज्ञं) यज्ञको (वहसि) [अपने लक्ष्य तक] पहुँचावें । (अयाः) सर्वत्र पहुँचकर (नः) हममें (भेषजं) रोगनिवारक शक्तिको (धेहि) धारण करें । (स्वाहा) यह मेरी वाणी सत्यहो । (इदं) यह (अग्नये) अग्नि (अयसे) सर्वत्र व्यापकके लिये है । (मम) मेरा इसपर स्वत्व (न) नहीं है ।

भावः—प्रभु सर्वत्र व्यापक प्रकाशके स्वामी हैं । पुण्यात्माओंकी रक्षा करते हैं । अतः साधक, यज्ञको ठीक लक्ष्य तक पहुँचानेका ही विचार सामने रखा कर ।

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय । अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा । इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च इदन्न मम ॥७॥ ऋ० १ । २४ । १५ ।

अर्थः—हे (वरुण) विभो (उत्तमं) उत्तम कक्षाके (मध्यमं) मध्यम कक्षाके (अधमं) नीचकक्षाके (पाशं) बन्धनको (उत् वि अव-श्रथय) ऊपरकी ओर, इधर उधर और नीचेकी ओरसे ढीला कर दें । (अथ) और हे (आदित्य) अखण्डव्रतोंके स्वामिन्, (वयं) हम (तव) तेरे (व्रते) नियममें [स्थिर रहते हुए] (अदितये) अखण्ड-आनन्दकी प्राप्तिकेलिये (अनागसः)

पापरहित (स्याम) होजावें । (इदं) यह (आदित्याय) आदित्य (वरुणाय) वरुणके लिये है । (इदं) यह (मम) मेरी [हवि] (न) नहीं है । (स्वाहा) यह सत्य कहता हूँ ।

भावः—साधारण साधकके लिये आलस्य, जुआ, मिथ्या भाषणादि अधम प्रकारके बन्धन काटनेभी कठिन होते हैं । उनसे मुक्त होकर वह मध्यम कक्षामें प्रवेश करता है । अब उसके मार्गमें राग, द्वेष, व्यर्थ निन्दा, स्तुति, लोभ, अहंकार, आदि मध्यम प्रकारके जाल बिछे हैं । इनसेभी ऊपर उठता है तो ममता, लोकमें कीर्तिकी लालसा, आदि बन्धन बन कर उसे बांधना चाहते हैं । साधकको चाहिये कि दुर्व्यसनोंको पांव तले कुचल दे । लोभ आदिको इधर उधर धकेल दे । ममतादिको ऊपरकी ओर, भगवान्की अद्भुत शक्ति और अनासक्तिका विचार करता हुआ ढीला कर दे । भगवान्का भक्त अपने स्वामीकी तरह अखण्डव्रतधारी और कर्त्तव्यपरायण होजावे । इसी उपायसे हम पाप-पाशसे छूट सकते हैं । संकल्प तथा धारणाको पक्का करनेकी आवश्यकता है ।

ओं भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञं हिं सिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा ॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदन्न मम ॥८॥ यजु० ५।३।

अर्थ :—हे (जातवेदसौ) सर्वत्र विद्यमान [भौतिक और आध्यात्मिक अग्नियो*], (नः) हमारे लिये (समनसौ)

* शत० ३।४। १।२४ ॥ में कहा है कि आहवनीय नामकी अग्निमें दूसरी मथी डुई अग्निको डालते हुए यह मंत्र पढ़ा जावे ।

समान मनवाले (सचेतसौ) समान चित्तवाले (अरेपसौ) पाप-रहित (भवतं) होवो । (यज्ञं) यज्ञकी (यज्ञपतिं) यज्ञके पालन करनेवालेकी (मा) मत (हिंसिष्ठं) हिंसा होनेदो (अद्य) आज (नः) हमारे लिये [शिवौ] कल्याणयुक्त (भवतं) होवो ॥

भावः—हे साधक ! जातवेदस्के भौतिक प्रकाशमें आध्यात्मिक जातवेदस् अर्थात् परमात्माको देख । यही योग-साधन द्वारा निर्मथन करके प्राप्त होने वाली दूसरी अग्नि है । भौतिक अग्निसे प्रकाशका संकेत ग्रहण कर और तू भी अग्नि रूप बनजा । परम अग्निके साथ चित्त और मनको मिला देख । अग्निमें कोई मलिनता नहीं ठहर सकती । तू भी सब पाप को भस्म करदे । इन दोनों अग्नियों द्वारा अपनी और यज्ञकी रक्षा कर । अपना स्वरूप ठीक ठीक समझना और समर्पणका भाव धारण करना ही रक्षा है । यही यज्ञका उद्देश्य है । यही देवोंका यज्ञ है । इसीका यजन करके तुम्हारे पूर्वज ऋषि मुनि देवता बने । इसीका तू भी नित्य अनुष्ठान किया कर ।

यज्ञकी वेदी भौतिक और आत्मिक जगतका ही एक सांकेतिक चित्र हैं । सूर्य भी आग है और बिजली भी आग है । सूर्य एक प्रकारसे पार्थिव भागमें प्रविष्ट हो रहा है । रगड़ की क्रिया आन्तरिक ज्योतिका प्रकाश है और वह भौतिक बिजली या आगके रूपमें प्रगट हो जाती है । आत्मिक प्रक्रियामें भी ज्ञान द्वारा भौतिक विभूतिमें अग्नि स्वरूप परमात्माके भावको प्रविष्ट करना है । (जातवेदस्) शब्दका तात्पर्य वह विभूति है जो यावदुत्पन्न जगतमें विद्यमान होकर अपनी सत्तासे उसे धारण कर रही हो । इसके भौतिक प्रकाश प्राण वायु अग्नि आदि अनेक ब्राह्मण ग्रन्थोंमें बतलाये हैं (देखो शत० ९।५।१।६८॥ ऐत० ब्रा० २।३४)

७. उपसंहारः—साधारण हवनमें इस सामान्य प्रकरणके पश्चात् प्रातः या सायं, जैसा समय हो, तदनुसार अग्निहोत्र करें और विशेष संस्कारोंमें संस्कार विधिके निर्देशानुसार कृत्य करें ।

प्रिय पाठकवर्ग ! आपने देखा कि किस प्रकार आर्य-धर्म सब धर्मोंकी अपेक्षा अति प्राचीन और परिपूर्ण है । इसके महत्त्वका रहस्य भी आपने समझ लिया । ज्ञान, कर्म और उपासनाका परस्पर संबंध भी आपको बतलाया गया । वेदान्त-ग्रन्थोंके अनुसार ज्ञान सहित कर्मका विधान समझ कर, पञ्चमहायज्ञ, इष्टापूर्त्त और अग्निहोत्रके आध्यात्मिक तथा भौतिक स्वरूपों तथा लाभोंका दिग्दर्शन भी आपने कर लिया । इस अध्यायमें प्रत्येक कृत्यमें आर्य हुए मन्त्रोंकी भावपूर्ण व्याख्या भी आपने सुन ली है । अब आपका क्या कर्त्तव्य है, यह आपको विचार करके, शास्त्रकी मर्यादानुसार उसे करने लग जाना चाहिये । व्यक्तिगतरूपसे अग्निहोत्रके धर्मके संकेतोंको समझते हुए पालन करें और स्वयं हाथोंपर सरसों उगती हुई देखें ।

आपका एक और कर्त्तव्य है और वह जातीय रूपमें है । जहां आपने वेदके मन्त्रोंके अर्थ तथा व्याख्यान पढ़ें होंगे, वहां टिप्पणोंपर ध्यान देनेसे आपको यह भी पता लगा होगा कि वेदका जानना गूढ़ संकेतोंको समझे बिना पूर्ण नहीं हो सकता । उपनिषदें इन्हीं संकेतों और इशारोंको लेकर चलती हैं । ध्यान-योग इन्हींपर निर्भर है । आत्मिक उन्नतिका यही राजपथ है । परन्तु कितने शोककी बात है कि

इस प्रकार सांकेतिक प्रक्रियाके अनुसार अर्थके समझने समझाने वाले विद्वानोंकी संख्या बहुत ही थोड़ी है । जिन महानुभावोंने कुछ लिखा भी है, वह भी व्याकरणादिकी प्रक्रियाका पूरा विचार न किये जानेसे अनेक अशुद्धियोंसे दूषित है । इस विषयमें भी आपका जातीय कर्त्तव्य है कि आप वेदादि शास्त्रोंके ठीक २ पठन, पाठन तथा स्वध्याय-प्रवचनका प्रबन्ध करें । ऐसान करनेसे आप अपने पूर्वजोंके प्रति भी और आने वाले वंशजोंके प्रति भी उत्तरदायी होंगे । जातीय-जीवन जातीय शास्त्रोंकी रक्षापर निर्भर है । अतः आर्यवृन्द, उपेक्षा और प्रमादको त्यागो । अब जागने और कार्य करनेका समय है । परमात्मा ऐसी कृपा करें कि सब ऋषि-भक्त बनें और जातीय नौकाके योग्य कर्णधार बनकर देशको लौकिक और पारलौकिक सम्पत्तिसे परिपूर्ण बनानेमें अग्रसर होकर पुण्य और यशके भागी बनें ॥ ॐ शम् ॥

इति लवपुरीयवैदिकाश्रमस्थेनाऽऽचार्यविश्वबन्धु

शास्त्रिणा विरचितो देवयज्ञप्रदीपिका-नामको

ग्रन्थोऽयं पूर्तिमगात् ॥

